नई शिक्षा नीति के अनुसार

2024

VVP

विश्वविद्यालय प्रकाशन (रजि.)
ग्वालियर
द्वारा प्रकाशित

20 प्रश्न

(परीक्षोपयोगी महत्वपूर्ण मॉडल प्रश्नोत्तर)

राजनीति विज्ञान

VVP

भारत में राज्यों की राजनीति

[माइनर]

बी. ए. तृतीय वर्ष

नया पाठ्यक्रम

भारत में राज्यों की राजनीति

इकाई–1.

(1) स्वतंत्रता के बाद राज्य का गठन और भारतीय राज्यों का एकीकरण।

(2) जूनागढ़ हैदराबाद, गोवा और काश्मीर की केस स्टडी।

इकाई–2.

(1) औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ।

(2) राज्यों का पुनर्गठन–मुद्दे और दृष्टिकोण।

(3) भाषा, धर्म और पहचान संरचनाएँ।

इकाई–3.

(1) क्षेत्रीय पहचान (क्षेत्रवाद), रूचियाँ और आकांक्षाएँ।
(2) जाति और सामुदायिक ध्रुवीकरण।
(3) दलीय राजनीति और राष्ट्रीय मुद्दे जैसे– धर्म निरपेक्षता, साम्प्रदायवाद, और अल्पसंख्यकों की राजनीति।
(4) कृषि राजनीति।

इकाई–4.

(1) पार्टी की राजनीति और गठबंधन सरकार।
(2) केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में मुद्दे और रुझान।
(3) केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के खिलाफ राज्य की राजनीति।
(4) राज्य की राजनीति में राज्यपाल की भूमिका।

इकाई–5.

(1) अन्तर्राज्य परिषद्
(2) अन्तर्राज्यीय जल विवाद
(3) अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवाद
(4) लोक कल्याणकारी नीतियों का कार्यान्वयन– जैसे गरीबी उन्मूलन, खाद्य सुरक्षा और अधिकारिता नीतियाँ।

❑❑

अनुशंसित मूल्यांकन विधियाँ		
अनुशंसित सतत् मूल्यांकन विधियाँ (अधिकतम अंक : 100) सतत् व्यापक मूल्यांकन (CCE) अंक : 30 विश्वविद्यालयीन परीक्षा (UE) अंक : 70		
आंतरिक मूल्यांकनः सतत् व्यापक मूल्यांकन (CCE)	क्लास टेस्ट असाइनमेंट/प्रस्तुतिकरण (प्रजेंटेशन)	कुल अंकः 30
आंकलनः विश्वविद्यालयीन परीक्षा समयः 03.00 घंटे	अनुभाग (अ): अति लघुउत्तरीय प्रश्न अनुभाग (ब): चार लघु उत्तरीय प्रश्न अनुभाग (स): दो दीर्घ उत्तरीय प्रश्न	कुल अंक 70

❑ **कृपया ध्यान दें :** नई शिक्षा नीति स्नातक तृतीय वर्ष में लागू की गई है। परीक्षा के नये पैटर्न में वस्तुनिष्ठ प्रश्न, लघुउत्तरीय प्रश्न तथा दीर्घउत्तरीय प्रश्न पूछे जायेंगे। कुछ लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर इस पुस्तक में दिये गये हैं। दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर में ही लघुउत्तरीय प्रश्नों के उत्तर निहित हैं। इस हेतु आप लघुउत्तरीय प्रश्न में जितना पूछा जावे, दीर्घउत्तरीय प्रश्न के उत्तर का उतना ही भाग लिखें।

कृपया ध्यान दें

VVP विश्वविद्यालय प्रकाशन, ग्वालियर द्वारा प्रकाशित **बी.ए., बी.कॉम. तथा बी.एस-सी.** की '20 प्रश्न' पुस्तकें खरीदते समय प्रत्येक पेज पर 2024 छपा देखकर सही तथा असली पुस्तक ही खरीदें। बी.कॉम. तथा बी.एस-सी. अंग्रेजी माध्यम में भी प्रकाशित हैं।

राजनीति विज्ञान

भारत में राज्यों की राजनीति
[माइनर]

इकाई-1

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. स्वतंत्रता के बाद भारत में राज्यों की राजनीति में राज्यों के पुनर्गठन के ऐतिहासिक विकास पर एक लेख लिखिए।

अथवा

भारत में राज्यों की राजनीति के जन्म एवं उसके विकास के कारणों पर प्रकाश डालिए। राज्यों की राजनीति ने देश की एकता को किस प्रकार प्रभावित किया है?

अथवा

'भारत में राज्यों के गठन का प्रश्न भाषायी प्रश्न से सम्बद्ध है।' विवेचना कीजिये।

उत्तर– भारत राज्यों की राजनीति : पृष्ठभूमि अथवा ऐतिहासिक विकास– स्वतंत्रता से पूर्व भारत में ब्रिटिश प्रान्तों की पृथक प्रशासनिक व्यवस्था थी तथा देशी रियासतों का पृथक् अस्तित्व था। किन्तु देशी रियासतों पर भी ब्रिटिश सरकार को सर्वोपरिता की स्थिति प्राप्त थी। 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947' के अन्तर्गत देशी रियासतों पर ब्रिटिश सम्राट के आधिपत्य एवं उस तिथि तक लागू समस्त सन्धियों एवं समझौतों को समाप्त कर दिया। इस प्रकार भारतीय रियासतें पूर्णतया स्वतंत्र हो गईं।

स्वतंत्रोत्तर भारत में राज्यों का पुनर्गठन– स्वतंत्रोत्तर भारत में राज्यों के पुनर्गठन का प्रश्न अत्यन्त 'संघवाद' को अपना लक्ष्य बनाया। संघवाद के उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए भारतीय राज्यों का निम्नलिखित आधारों पर पुनर्गठन किया गया–

(1) **'ए' श्रेणी के राज्य–** इस श्रेणी में भूतपूर्व ब्रिटिश प्रांतों को सम्मिलित किया गया। ये 'ए' श्रेणी के राज्य इस प्रकार थे– पंजाब, संयुक्त–प्रांत, पश्चिम–बंगाल, बिहार, उड़ीसा, असम, मध्य–प्रान्त, संयुक्त–प्रांत एवं मद्रास।

(2) **'ब' श्रेणी के राज्य–** सन् 1947 से पूर्व कुछ ऐसे क्षेत्र तथा देशी रियासतें थीं जो कि ब्रिटिश सरकार द्वारा शासित थीं। इन्हें 'बी' श्रेणी के राज्य कहा गया। ये क्षेत्र एवं रियासतें थीं– जम्मू–कश्मीर, पटियाला व पूर्वी पंजाब की रियासतें का संघ, सौराष्ट्र, राजस्थान, मध्य–प्रांत, ट्रावनकोर, हैदराबाद, मैसूर, विन्ध्य प्रदेश एवं कोचीन।

(3) **'सी' श्रेणी के राज्य–** इस श्रेणी में निम्नलिखित राज्यों को सम्मिलित किया गया था– दिल्ली, हिमाचल–प्रदेश, भोपाल, बिलासपुर, अजमेर, कुर्ग, कूच बिहार, कच्छ, त्रिपुरा

एवं मणिपुर। इन राज्यों का प्रशासन केन्द्रीय प्रशासन के आधीन था तथा 'मुख्य–आयुक्त' अथवा 'उपराज्यपाल' इनका शासन चलाते थे।

(4) **'डी' श्रेणी के राज्य–** इसमें अण्डमान व निकोबार द्वीपों को सम्मिलि किया गया था तथा केन्द्रीय सरकार अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से इनका शासन चलाती थी।

राज्यों का उपर्युक्त आधार पर किया गया पुनर्गठन संतोषजनक सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि इन राज्यों में आकार, जनसंख्या एवं आर्थिक आधार पर व्यापक विषमता विद्यमान थी। कतिपय विशाल राज्यों तथा मुम्बई व चेन्नई में बहु–भाषा–भाषी होने के कारण भी समस्याएँ उत्पन्न हुईं। परिणामस्वरूप भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग ने जोर पकड़ा बलवती हुई।

भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन– भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग कोई नहीं थी क्योंकि स्वतंत्रता से पूर्व भी इस प्रकार की माँगें की जाती रही थीं। उदाहरणार्थ– सन् 1905 में बंगाल का विभाजन भाषायी आधार पर किया गया। यद्यपि आन्तरिक रूप से इस विभाजन के लिये अंग्रेजों की 'फूट डालो व शासन करो' की नीति उत्तरदायी थी लेकिन बाह्य रूप में यह विभाजन भाषायी आधार पर ही किया गया था। सन् 1931 में 'इण्डियन स्टैच्युटरी आयोग' ने भी भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग पर जोर दिया। इससे पूर्व सन् 1927 में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव में कहा कि– "भाषायी आधार पर प्रांतों के पुनर्गठन का समय आ गया है।" सन् 1928 की नेहरू रिपोर्ट में भी इसका समर्थन किया गया।

स्वतंत्रता के पश्चात् राज्यों को चार श्रेणियों में विभक्त करके एकीकरण का प्रयास किया गया किन्तु शीघ्र ही भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग जोर पकड़ने लगी। स्वतंत्रता से पूर्व ही इस प्रश्न के समाधान हेतु 'दर आयोग' का गठन किया गया जिसका प्रमुख कार्य यह जाँच करना था कि दक्षिणी भारत में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग कहाँ तक उचित है। आयोग ने यद्यपि राज्यों के पुनर्गठन की माँग को तो उचित ठहराया लेकिन भाषायी आधार पर पुनर्गठन की माँग का विरोध किया। इस चार सदस्यीय आयोग के अध्यक्ष इलाहाबाद उच्च न्यायालय के सेवानिवृत न्यायधीश एस.के. दर थे। 'दर आयोग' के निर्णयों की जाँच हेतु कांग्रेस कार्य समिति ने जयपुर अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल एवं पट्टाभि सीतारमैय्या की एक समिति 'जे.वी.पी. समिति' का गठन किया। इस समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की माँग को अस्वीकृत किया किन्तु साथ ही यह स्वीकार किया कि यदि जनता पुनः इस माँग को उठाती है तो लोकतांत्रिक व्यवस्था के दायरे में इस माँग पर विचार किया जाना चाहिये।

जे.वी.पी. समिति की रिपोर्ट के पश्चात् मद्रास के तेलगू भाषियों ने श्री रामालु के नेतृत्व में आन्दोलन आरम्भ कर दिया तथा 56 दिन के आमरण–अनशन के पश्चात् 15 दिसम्बर 1952 को रामालु की मृत्यु हो गई। इससे आन्दोलन में तीव्रता आना स्वाभाविक ही था। अन्ततः 1 अक्टूबर, 1953 को पहला भाषायी राज्य आन्ध्रप्रदेश गठित किया गया।

राज्य पुनर्गठन आयोग– भाषायी आधार पर आन्ध्रप्रदेश के अस्तित्व में आने के पश्चात् अन्य राज्यों द्वारा भी इस प्रकार की माँग उठाई गई। परिणामस्वरूप सन् 1955 में 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की नियुक्ति की गई जिसके अध्यक्ष अफजल अली थे तथा अन्य सदस्य सरदार के. एम. पणिक्कर एवं पं. हृदयनाथ कुंजरु थे। भारत सरकार के निर्देश पर इस आयोग ने राज्यों के पुनर्गठन की समस्या का व्यापक अध्ययन किया तथा 30 सितम्बर 1955 को अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि राज्यों का पुनर्गठन भाषा एवं संस्कृति आदि के आधार पर किया जाना चाहिये। पुनर्गठन का कोई अकेला मापदण्ड नहीं हो सकता। आयोग की प्रमुख अनुशंसाएँ निम्नलिखित थीं–

(1) प्रशासित सुविधा एवं दक्षता की दृष्टि से 'भाषायी सजातीयता' को महत्व दिया जाना चाहिये लेकिन साथ ही अन्य पक्षों की भी अवहेलना नहीं करनी चाहिये।

(2) 'एक भाषा एवं राज्य' के सिद्धान्त को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये लेकिन इससे 'भाषायी सजातीयता' के नियम की अवहेलना होती है। 'एक भाषा एक राज्य' का सिद्धान्त अव्यवहारिक भी है क्योंकि एक भाषा के बोलने वाले एक से अधिक प्रांतों में हो सकते हैं जबकि एक ही प्रांत में विभिन्न भाषाओं को बोलने वाले हो सकते हैं।

(3) एक भाषा–भाषी राज्य में विभिन्न भाषा–भाषी समूहों की शैक्षणिक, संचार संबंधी एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना चाहिये।

(4) 'पृथक् देश' के विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये।

(5) एक भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि इससे पृथकवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) राज्यों के मध्य पारस्परिक सहयोग में वृद्धि की जानी चाहिये तभी राष्ट्रीय नीतियों को व्यवहारिक रूप दिया जा सकता है।

(7) राज्यों का पुनर्गठन राष्ट्रीय सुरक्षा, वित्तीय एवं प्रशासनिक आवश्यकता तथा पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता पर दृष्टि रखते हुए किया जाना चाहिये।

(8) 'ए', 'बी' तथा 'सी' श्रेणियों में विभक्त राज्यों को समाप्त किया जाना चाहिये तथा इसके स्थान पर भारतीय संघ को 16 राज्यों तथा 3 संघ राज्य क्षेत्रों में विभक्त किया जाना चाहिए।

आयोग की सिफारिशों को व्यवहारिक रूप प्रदान करने के उद्देश्य से सन् 1956 से 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम' पारित किया गया। इस अधिनियम में कतिपय संशोधनों के साथ आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया। इस अधिनियम के आधार पर सम्पूर्ण देश को चौदह राज्यों एवं पाँच केन्द्रशासित प्रदेशों में विभक्त किया गया।

इसके बावजूद भी भारतीय राजनीति में परिवर्तन जारी रहा। नवम्बर 1954 में फ्रांसीसी सरकार के साथ संधि होने के पश्चात् फ्रांसीसी बस्तियों पर भारतीय सरकार का प्रभुत्व स्थापित हो गया जिसके परिणामस्वरूप 'पाण्डिचेरी' केन्द्रशासित प्रदेश अस्तित्व में आया। सन् 1960 में भाषायी विवाद उत्पन्न होने पर मुम्बई को विभक्त करके 'महाराष्ट्र'

एवं 'गुजरात' दो राज्य बनाये गये। सन् 1962 में असम को विभक्त करके पृथक् 'नागालैण्ड' राज्य बनाया गया। सन् 1966 में पंजाब को विभाजित करके पंजाबी भाषी राज्य 'पंजाब' तथा हिन्दी भाषी राज्य 'हरियाणा' अस्तित्व में आया। तत्पश्चात् 1971 में 'हिमाचल प्रदेश', 20 जनवरी 1972 को 'मेघालय' 21 जनवरी 1972 को 'मणिपुर' व 'त्रिपुरा' को राज्य का दर्जा प्रदान किया गया। सन् 1975 में सिक्किम, सन् 1986 में मिजोरम व अरुणांचल प्रदेश, सन् 1987 में गोवा तथा सन् 2000 में उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ एवं झारखण्ड राज्यों का गठन किया गया।

इस प्रकार वर्तमान में भारत में 28 राज्य 7 केन्द्रशासित प्रदेश हैं। संविधान के अनुच्छेद 2 के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह कानून बनाकर संघ में नये राज्यों को प्रवेश दे सकती है अथवा नए राज्यों की स्थापना कर सकती है, ऐसा संसद उचित निर्बन्धनों एवं शर्तों के अनुसार कर सकती है। अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद किसी भी राज्य का क्षेत्र घटा या बढ़ा सकती है या किसी भी राज्य की सीमा या नाम में परिवर्तन कर सकती है।

राज्यों के निर्माण या सीमाओं में परिवर्तन से सम्बन्धित कोई भी विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना संसद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। विधेयक को राज्य–विधानमण्डल में विचारार्थ भी भेजा जाता है। राज्य–विधानमण्डल को निर्धारित अवधि में अपने विचार व्यक्त करने होते हैं। संसद राज्य–विधान मण्डलों के विचारों को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु जम्मू–काश्मीर के सम्बन्ध में स्थिति अपवादपूर्ण है। राज्य की सीमा में परिवर्तन से सम्बन्धित विधेयक राज्य–विधान मण्डल की स्वीकृति के बिना संसद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

भाषायी आधार राज्यों के पुनर्गठन के दुष्परिणाम– भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन करने के परिणामस्वरूप अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। उदाहरणार्थ अनेक राज्यों में अल्पसंख्यक भाषा–भाषी की समस्या अत्यन्त उग्र रूप में सामने आई। साथ ही प्रांतीयतावाद जैसी दुष्प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिला। 26 जनवरी, 1965 से सरकारी कामकाज की भाषा हिन्दी है किन्तु कतिपय दक्षिणी राज्य हिन्दी–भाषा को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं है। इसी प्रकार 'संघीय लोक सेवा आयोग' की परीक्षाओं का माध्यम हिन्दी को बनाए जाने का अनेक राज्यों ने विरोध किया। परिणामस्वरूप अन्य भाषाओं को भी संघीय लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं का माध्यम बनाया गया। इसी प्रकार 'राज्य लोक सेवा आयोग' की परीक्षाओं में प्रादेशिक भाषाओं को माध्यम बनाया गया है। भाषा के आधार पर निर्मित राज्यों में पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है जिसके अन्तर्गत पंजाब एवं असम आदि में 'पृथक राज्य' की माँग की गई। निश्चत रूप से ऐसी माँगें देश की एकता एवं अखण्डता के लिये एक खतरा है। भाषा के आधार पर ही विभिन्न राज्यों में हिंसक आन्दोलन भी हुए हैं।

परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए दिसम्बर 1967 में द्विभाषावाद की नीति को अपनाया अर्थात् यह प्रावधान किया कि संघ सरकार के कार्यों के लिये हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग किया जा सकता है।

प्रश्न–2. भारत में स्वतंत्रता के बाद राज्यों का गठन कैसे हुआ?

अथवा

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् राज्यों के गठन हेतु कौनसी प्रक्रिया अपनाई गई?

अथवा

भारत में स्वतंत्रता के बाद राज्य कैसे बने?

उत्तर– स्वतंत्रता के बाद भारत में राज्यों का गठन भारतीय संघ (भारतीय संगठन) के तहत किया गया। इस प्रक्रिया को पूरा करने हेतु निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई गई–

(1) **संविधान का निर्माण**– स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् भारतीय संघ के संविधान का निर्माण किया गया। संविधान का निर्माण करने हेतु भारतीय संघ ने संविधान सभा का गठन किया, जिसमें विभिन्न धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्राथमिकताओं पर विचार मंथन हुआ।

(2) **संविधान का ड्राफ्टिंग**– संविधान सभा ने संविधान का मसौदा (ड्राफ्ट) तैयार किया, जिसमें भारतीय संघ के संविधान के मूल सिद्धान्तों और विधियों का विस्तार से वर्णन किया गया।

(3) **संविधान की स्वीकृति**– संविधान सभा ने संविधान को अपनी स्वीकृति देने के पश्चात् इसे 26 जनवरी, 1950 को पूर्णतः संचालन में लागू किया गया, जिससे भारत गणराज्य की स्थापना हुई।

(4) **राज्यें का गठन**– स्वतंत्रता के पश्चात् भारत को विभिन्न राज्यों में विभाजित किया गया। यह विभाजन प्राकृतिक भूगोल, जनसंख्या, भाषा, सांस्कृतिक प्राथमिकताओं और अन्य सामाजिक मापदंडों पर आधारित था।

(5) **राज्यों के संघ**– भारतीय संघ के अन्तर्गत, राज्यों को संघ के सदस्य राज्यों के रूप में शामिल किया गया और उनका संघ के संविधान के अनुसार संचालन किया गया।

इस प्रकार, स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में राज्यों का गठन हुआ और एक संघ बनाया गया जिसमें संविधान के माध्यम से भारतीय गणराज्य की स्थापना हुई। संविधान के प्रावधानों के अनुसार, राज्यों को अपनी संविधानिक और प्रशासनिक अधिकार-होते हैं और संघ तथा राज्यों के बीच संविधानिक सम्बन्ध होते हैं।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् राज्यों का गठन– स्वतंत्रता के पश्चात् सभी दृष्टिकोणों से विचार मंथन के पश्चात् नये भारतीय राज्यों का गठन हुआ। इसके लिए भारतीय संघ (भारतीय संगठन) का निर्माण किया गया और भारतीय संघ का संविधान निर्माण किया गया। यह गठन निम्नलिखित प्रमुख प्रक्रियाओं के माध्यम से हुआ–

(1) **संविधान का निर्माण**– स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् भारत में स्वतंत्रता आन्दोलनों के नेताओं ने भारतीय संघ का संविधान तैयार करने का कार्य किया। संविधान सभा का गठन किया गया और इसमें विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समृद्धि के मुद्दों पर चर्चा हुई।

(2) **संविधान की प्रस्तावना**– संविधान निर्माण के पूर्व, संविधान की प्रस्तावना तैयार की गई, जिसमें भारत का मौलिक ढाँचा, मूल अधिकार और शासन के सिद्धान्तों व विधियों का विस्तार से वर्णन किया गया।

(3) **संविधान की स्वीकृति**– संविधान सभा द्वारा तैयार किया गया संविधान 26 जनवरी, 1950 को पूर्णतः संचालन में लागू हुआ, जिसके साथ ही भारत गणराज्य की स्थापना सम्पन्न हुई।

(4) **राज्यों का गठन**– स्वतंत्रता के पश्चात् भारत को राज्यों में विभाजित किया गया। इन राज्यों को भूमि, भाषा, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और अन्य अनेक मापदंडों के आधार पर गठित किया गया। पहले, भारत में ब्रिटिश राज के दौरान अलग-अलग प्रान्तों का विभाजन हुआ था, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम का साथ दिया था। इसके बाद, इन प्रान्तों को राज्यों मे व्यवस्थित तरीके से संगठित किया गया और उन्हें स्वतंत्रता के बाद के भारतीय गणराज्य के हिस्से के रूप में शामिल किया गया।

इससे भारत का सम्पूर्ण नक्शा बन गया, जो हमें आज भी जानने को मिलता है, जिसमें राज्यों की सीमाओं का पुनर्निर्धारण का काम किया गया है।

प्रश्न–3. भारतीय राज्यों का एकीकरण कैसे हुआ? समझाइये।

उत्तर– **भारतीय राज्यों का एकीकरण**– भारतीय राज्यों का एकीकरण भारतीय संघ के तहत होता है और इसका प्रमुख उद्देश्य भारत के विभिन्न राज्यों को एक ही संघ के अन्तर्गत एकत्र करना और साझा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। इसका आशय यह है कि भारतीय राज्यों का एकीकरण उनके आर्थिक और सामाजिक विकास को समर्थन प्रदान करने हेतु अनेक प्रकार के सम्मिलित प्रयासों को संचालन करने के साथ होता है।

भारतीय राज्यों का एकीकरण का मुख्य उद्देश्य भारत में सामाजिक और राजनीतिक एकता तथा एकीकरण स्थापित करना है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप, भारतीय संघ (भारतीय संगठन) का गठन हुआ और विभिन्न राज्यों को एकीकृत किया गया। निम्नलिखित तत्वों के माध्यम से भारतीय राज्यों का एकीकरण साधा जाता है–

(1) **संविधान**– भारतीय संघ का संविधान सभी राज्यों के लिए सामान्य होता है, जिसमें संघ और राज्यों के सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है। संविधान में विभिन्न राज्यों के अधिकार और कर्तव्यों का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

(2) **संघीय तंत्र**– भारतीय संघ का राज्यों के साथ संघीय तंत्र होता है जिसमें राज्यों की अपनी विशिष्ट शासनिक प्राधिकृति होती है, लेकिन संघ को कुछ विशिष्ट क्षेत्रों जैसे कि रक्षा, विदेश मामले और अन्य कुछ क्षेत्रों में अधिकार होता है।

(3) **संघ तथा राज्यों के बीच सम्बन्ध**– संविधान में संघ और राज्यों के बीच के सम्बन्धों की व्याख्या होती है, जिसमें दोनों के अधिकार और कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है।

(4) **नियंत्रण तथा सहयोग**– संघ और राज्यों के बीच नियंत्रण और सहयोग का सिद्धान्त होता है, जिसके तहत संघ राज्यों के विकास को सहयोग करता है और आवश्यकता पर नियंत्रण करना है।

(5) **संघीय तंत्र के तहत राज्यों के विवादों का समाधान**– यदि कोई विवाद या मामला उत्पन्न होता है, तो संघीय तंत्र के अन्तर्गत इसका समाधान किया जाता है, जिससे समर्थन तथा एकीकरण सुनिश्चित होता है।

इस प्रकार, भारतीय राज्यों का एकीकरण संघ और राज्यों के बीच सही तरीके से संचालन किया जाता है, जिससे राज्यों का सामृद्धिक और सामाजिक विकास सुनिश्चित किया जा सके और भारत के सभी नागरिकों को बराबरी के और संविधानिक अधिकार मिल सकें।

स्वतंत्रता के पश्चात् राज्यों का गठन और भारतीय राज्यों का एकीकरण– स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राज्यों का गठन और भारतीय राज्यों का एकीकरण निम्नलिखित प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न हुआ–

(1) **स्वतंत्रता संग्राम**– भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारतीय जनता की साझा संघर्ष की भावना को जागृत किया, जिसके परिणामस्वरूप 15 अगस्त, 1947 को भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की।

(2) **विभाजन**– स्वतंत्रता के पश्चात् भारत का विभाजन हुआ और सभी दृष्टिकोणों से विचार मंथन करने के बाद पाकिस्तान तथा बंगला देश नामक दो अलग राष्ट्र बने, जो भारत से अलग थे।

(3) **राज्यों का गठन**– स्वतंत्रता के पश्चात् भारत को राज्यों में विभाजित किया गया। सर्वप्रथम, भारतीय राज्यों को प्रान्तों में विभाजित किया गया जिन्होंने संग्राम के दौरान अलग-अलग प्रमुख आन्दोलनों में भाग लिया था।

(4) **संघ की स्थापना**– स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संघ का गठन किया गया। भारतीय संविधान के तहत एक भारतीय संघ का निर्माण किया जो कि राज्यों को अनुशासित करने का कार्य करता है।

(5) **संविधान का निर्माण**– स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् भारतीय संघ ने एक संविधान तैयार किया जिसमें भारत के संघ और राज्यों के बीच संविधानिक और नैतिक मानक तथा नियम वर्णित किए गए।

(6) **संविधान की स्वीकृति और पूर्णतः संचालन**– संविधान सभा के माध्यम से संविधान स्वीकृत हुआ और यह 26 जनवरी, 1950 को पूर्णतः संचालन में लागू हो गया, जिसके साथ ही भारत गणराज्य की स्थापना हो गई।

उक्त प्रक्रिया द्वारा स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राज्यों का गठन हुआ, जिन्हें संघ के तहत एकीकृत किया गया और भारतीय संघ के संविधान के माध्यम से राज्यों के सम्बन्धों को संरचित किया गया। इससे भारत गणराज्य का नक्शा तैयार हुआ, जिसमें राज्यों के सीमाओं के पुनर्निर्धारण का काम किया गया।

प्रश्न–4. जूनागढ़ का भारत में विलय को समझाइये।

अथवा

जूनागढ़ कहाँ स्थित है? इसका इतिहास समझाइये।

उत्तर– **जूनागढ़ का विलय**– फरवरी, 1948 में, जूनागढ़ रियासत, जो अब भारतीय राज्य गुजरात में स्थित है, को पाकिस्तान डोमिनियन के साथ उसके विलय और जनमत संग्रह के विवाद के बाद भारत संघ में मिला लिया गया था।

1947 में ब्रिटिश भारत की आजादी और विभाजन तक जूनागढ़ ब्रिटिश क्राउन के आधि[illegible] के तहत एक रियासत थी। कोई इस पर नवाब मुहम्मद महावत खानजी का मुस्लिम शास[illegible] था, जिसके पूर्वजों ने लगभग दो सौ वर्षों तक जूनागढ़ और छोटी रियासतों पर शासन किया था। इसके पास दो नए स्वतंत्र प्रभुत्वों भारत संघ और पाकिस्तान में से एक में शामिल होने का विकल्प था।

नवाब ने फैसला किया कि जूनागढ़ को पाकिस्तान का हिस्सा बनना चाहिए, इससे राज्य के कई लोग नाराज थे, जिनमें से अधिकांश लगभग 80% हिन्दू थे। नवाब 15 अगस्त, 1947 को भारत के गनर्वर-जनरल लॉर्ड माउंटबेटन की सलाह के विरुद्ध यह तर्क देते हुए कि जूनागढ़ समुद्र के रास्ते पाकिस्तान में शामिल हुआ। पाकिस्तान के डोमिनियन में शामिल हो गए, बाबरियावाद की रियासत और मांगरोल के शेख ने जूनागढ़ से स्वतंत्रता और भारत में विलय का दावा करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। हालांकि मांगरोल के शेख ने अगले ही दिन भारत में अपना विलय वापस ले लिया। मुहम्मद अली जिन्ना ने विलय पत्र को स्वीकार करने के लिए एक महीने तक इंतजार किया। जब 16 सितम्बर को पाकिस्तान ने नवाब के विलय पत्र को स्वीकार कर लिया, तो भारत सरकार नाराज हो गई कि जिन्ना जूनागढ़ के विलय को स्वीकार कर सकते हैं, उनके इस तर्क के बावजूद कि हिन्दू और मुस्लिम एक राष्ट्र के रूप में नहीं रह सकते। नेहरू ने भारत की स्थिति यह रखी कि भारत जूनागढ़ के पाकिस्तान में विलय को स्वीकार नहीं करता। गृह मंत्री वल्लभभाई पटेल का मानना था कि यदि जूनागढ़ को पाकिस्तान में जाने की अनुमति दी गई, तो इससे गुजरात में पहले से ही पनप रहा साम्प्रदायिक तनाव और बढ़ जाएगा।

जूनागढ़ रियासत अपनी सभी भूमि सीमाओं पर भारत से घिरी हुई थी, जिसका निकास अरब सागर तक था। जूनागढ़ में अस्थिर परिस्थितियों के कारण भारत के साथ सभी प्रकार का व्यापार बंद हो गया और विभाजन की स्थिति अनिश्चित हो गई। क्षेत्र के संकटग्रस्त होने पर, अपनी जान बचाने हेतु नवाब को अपने परिवार और अपने अनुयायियों के साथ करांची भागने के लिए मजबूर होना पड़ा और वहाँ उन्होंने एक अस्थायी सरकार बना ली।

सरदार वल्लभभाई पटेल ने पाकिस्तान को विलय की अपनी स्वीकृति को पलटने और जूनागढ़ में जनमत संग्रह कराने के लिए समय देने की पेशकश की। इस बीच नवाब के फैसले के खिलाफ क्षेत्रीय क्षेत्रों और बम्बई जैसे प्रमुख शहरों में तनाव बढ़ रहा था। सौराष्ट्र और जूनागढ़ से सम्बन्धित 25-30 हजार लोग जूनागढ़ को नवाब के शासन से मुक्त करने की घोषणा करते हुए बम्बई में एकत्र हुए। सामलदास गाँधी ने जूनागढ़ के लोगों की एक

निर्वासित सरकार, आरजी हुकूमत (अर्थात् अस्थायी सरकार) का गठन किया। आखिरकार, पटेल ने जूनागढ़ की तीन रियासतों पर जबरन कब्जा करने का आदेश दिया। जूनागढ़ की राज्य सरकार, दयनीय आर्थिक स्थिति और भारतीय सेना का विरोध करने के लिए ताकतों की कमी का सामना कर रही थी, इसलिए उसने भारत सरकार को नियंत्रित लेने के लिए आमंत्रित किया। दिसम्बर में एक जनमत संग्रह आयोजित किया गया था, जिसमें लगभग 99.95% लोगों ने पाकिस्तान के बजाय भारत को चुना।

विद्वानों ने देखा कि भारत ने जूनागढ़ पर बलपूर्वक कब्जा किया था। विद्वानों ने इस कब्जे को भारतीय राज्य द्वारा रियासतों के शासकों को विलय के लिए मजबूर करने या धमकाने के एक व्यापक कार्यक्रम के हिस्से के रूप में देखा।

परिग्रहण का दस्तावेज– माउंटबेटन और आयंगर दोनों इस बात पर सहमत थे कि भौगोलिक निकटता के मुद्दे की कोई कानूनी स्थिति नहीं है और जूनागढ़ का पाकिस्तान में विलय सख्ती से और कानूनी रूप से सही था। लेकिन सरदार पटेल की माँग थी कि राज्य के विलय का मामला शासक के बजाय उसकी जनता द्वारा तय किया जाना चाहिए। नेहरू ने भारत की स्थिति यह रखी कि भारत जूनागढ़ के पाकिस्तान में विलय को स्वीकार नहीं करता।

बाद में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में, भारत का तर्क लोगों की इच्छाओं के इर्द-गिर्द घूमता रहा, जिसे उसने नवाब पर अनदेखा करने का आरोप लगाया। यूएनएससी में भारत के प्रतिनिधि को भी विलय पत्र के बारे में कानूनी बहस से बचने की सलाह दी गई क्योंकि इसका कश्मीर पर प्रभाव पड़ सकता है।

अनन्तिम सरकार (आरजी हुकूमत)– मेनन की सलाह पर महात्मा गाँधी के भतीजे सामलदास गाँधी ने प्रान्तीय सरकार के समर्थन से बम्बई में एक अस्थायी सरकार बनाई। इस सरकार को 'गुजरात स्टेट्स ऑर्गेनाइजेशन' से समर्थन मिला और काठियावाड़ स्टेट्स पॉलिटिकल कॉन्फ्रेंस से प्रायोजन भी मिला।

सामलदास गाँधी, यूएन ढेबर और जूनागढ़ पीपुल्स कॉन्फ्रेंस के सदस्यों ने 19 अगस्त 1947 को बॉम्बे में गुजराती दैनिक वंदे मातरम के कार्यालय में मुलाकात की। उन्हें 25 अगस्त, 1947 को काठियावाड़ राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। जूनागढ़ समिति नामक पाँच सदस्यीय समिति 15 सितम्बर 1947 को गठित की गाँधी ने वीपी मेनन से मुलाकात की और जूनागढ़ राज्य को आरजी हुकुमत या अनन्तिम सरकार की निर्वासित सरकार बनाने का प्रस्ताव रखा। 25 सितम्बर, 1947 को बम्बई के माधवबाग में एक सार्वजनिक बैठक में सामलदास गाँधी की अध्यक्षता में आरजी हुकूमत की घोषणा की गई।

आरजी हुकूमत का पाँच सदस्यीय मंत्रिमंडल राजकोट चला गया। सामलदास गाँधी प्रधानमंत्री बने और उनके पास विदेश मंत्रालय भी था। आरजी हुकूमत ने 30 सितम्बर से 8 नवम्बर, 1947 तक चालीस दिनों में 160 गाँवों पर कब्जा कर लिया।

भारत ने अस्थायी सरकार को जूनागढ़ के बाहरी क्षेत्रों पर नियंत्रण करने की अनुमति दी। बाद में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में भारत ने कभी भी अनन्तिम सरकार का समर्थन करने से इंकार किया। पाकिस्तान ने जूनागढ़ की अस्थायी सरकार के कार्यों के प्रति भारत की उदासीनता पर आपत्ति जताई। नेहरू ने पाकिस्तान को लिखा कि अनन्तिम सरकार जूनागढ़ की स्थानीय आबादी द्वारा राज्य के पाकिस्तान में विलय के प्रति "लोकप्रिय आक्रोश की एक सहज अभिव्यक्ति" थी।

नाकेबंदी और भारत पर कब्जा– जूनागढ़ के नवाब को अपना निर्णय बदलने के लिए मजबूर करने के लिए, अनन्तिम सरकार (आरजी हुकूमत) और काठियावाड़ के आसपास के क्षेत्रों में स्वयंसेवी बलों ने नाकाबंदी लागू कर दी। भारत ने बाद में जूनागढ़ की आपूर्ति को अवरूद्ध करने से इंकार किया। नाकाबंदी ने राज्य के शासक को पाकिस्तान जाने के लिए मजबूर कर दिया, जिन्होंने राज्य का प्रशासन सर शाहनवाज भुट्टो पर छोड़ दिया। मेनन ने दावा किया कि नवाब ने राज्य की नियति भुट्टो को सौंप दी थी, जो अविश्वसनीय नहीं है, क्योंकि वह मुख्य रूप से शाहनवाज भुट्टो थे जिन्होंने जिन्ना के करीबी प्रभाव और मार्गदर्शन के तहत पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय लिया था। भुट्टो ने क्षेत्रीय आयुक्त से "जूनागढ़ के विलय में शामिल कई मुद्दों का सम्मानजनक समाधान होने तक" प्रशासनिक सहायता का अनुरोध किया। दीवान भुट्टो ने नवम्बर तक पाकिस्तान द्वारा मदद भेजे जाने का इंतजार किया, लेकिन कोई नहीं आया। अस्थायी सरकार, भारतीय पक्ष के राष्ट्रवादी स्वयंसेवकों और हिन्दू निवासियों ने आन्दोलन करना शुरू कर दिया था और तनाव बढ़ रहा था। इस बीच, जूनागढ़ राज्य ने 670 मुस्लिम पुरुषों की एक सेना खड़ी की थी, जिन्हें प्रतिशोध सुनिश्चित करने के लिए (यदि कोई हो) विभिन्न स्थानों पर तैनात किया गया था। साम्प्रदायिक हिंसा भड़कने के डर से 9 नवम्बर, 1947 को भारत सरकार ने शान्ति स्थापित करने के लिए राज्य का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। नवाब के सैनिक निहत्थे हो गए, दीवान भुट्टो एक दिन पहले पाकिस्तान चले गए।

नेहरू ने लियाकत अली खान को टेलीग्राम किया– जूनागढ़ के प्रधानमंत्री, जूनागढ़ दीवान द्वारा बताई गई विशेष परिस्थितियों के मद्देनजर-राजकोट में हमारे क्षेत्रीय आयुक्त ने जूनागढ़ प्रशासन का अस्थायी प्रभार ले लिया है। ऐसा अव्यवस्था और परिणामी अराजकता से बचने के लिए किया गया है। हालांकि, हमें इस व्यवस्था को जारी रखने की कोई इच्छा नहीं है और हम जूनागढ़ के लोगों की इच्छाओं के अनुरूप शीघ्र समाधान खोजना चाहते हैं। हमने आपको पहले बताया है कि अन्तिम निर्णय जनमत संग्रह या जनमत संग्रह के माध्यम से किया जाना चाहिए। हमें आपकी सुविधानुसार यथाशीघ्र आपकी सरकार के प्रतिनिधियों के साथ इस प्रश्न और जूनागढ़ को प्रभावित करने वाले सम्बद्ध मामलों पर चर्चा करने में खुशी होगी। हम जूनागढ़ के नवाब को इस सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आमंत्रित करने का प्रस्ताव करते हैं।

लियाकत अली खान ने उत्तर दिया– आपका टेलीग्राम यह सूचित करता है कि आपकी सरकार ने जूनागढ़ का कार्यभार अपने हाथ में ले लिया है, जो मुझे 10 नवम्बर, 1947 को प्राप्त हुआ था। पाकिस्तान सरकार से किसी भी अधिकार के बिना और वास्तव में हमारी

जानकारी के बिना, राज्य प्रशासन को अपने हाथ में लेने और भारतीय सैनिकों को राज्य में भेजने की आपकी कार्रवाई, एक स्पष्ट उल्लंघन है पाकिस्तान क्षेत्र का उल्लंघन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन।

भारतीय सैनिकों के आगमन के बाद जूनागढ़ में मुसलमानों की व्यापक हत्या, बलात्कार और लूटपाट की खबरें आईं। जूनागढ़ में कई मुसलमान पाकिस्तान की ओर पलायन करने लगे। भारत द्वारा जूनागढ़ में प्रशासन संभालने के बाद, भारत के कानून मंत्रालय ने कहा कि जूनागढ़ का पाकिस्तान में विलय जनमत संग्रह द्वारा अमान्य नहीं किया गया था और जूनागढ़ अभी तक भारत में शामिल नहीं हुआ है। लेकिन भारत जनमत संग्रह के लिए आगे बढ़ा क्योंकि उसे विश्वास था कि परिणाम उसके पक्ष में होगा।

बाद का घटनाक्रम– भारत सरकार द्वारा छह महिने के प्रशासन के बाद 1 जून, 1948 को जूनागढ़ के प्रशासन के लिए तीन नागरिक सदस्यों (सामलदास गाँधी, दयाशंकर दवे और पुष्पाबेन मेहता) को शामिल किया गया। सौराष्ट्र की संविधान सभा के लिए जूनागढ़ क्षेत्र के सात निर्वाचन क्षेत्रों का चुनाव दिसम्बर 1948 में घोषित किया गया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभी सात सदस्य निर्विरोध चुने गए और उन सभी ने जूनागढ़ राज्य को सौराष्ट्र राज्य के साथ विलय करने के लिए मतदान किया। यह विलय जनवरी 1949 में पूरा हुआ।

1 नवम्बर, 1956 को सौराष्ट्र राज्य का बोम्बे राज्य में विलय कर दिया गया। 1960 में बॉम्बे राज्य को गुजरात और महाराष्ट्र के भाषाई राज्यों में विभाजित किया गया था, और जूनागढ़ जिला अब गुजरात के जिलों में से एक है।

प्रश्न–5. हैदराबाद राज्य के गठन को समझाइये।

उत्तर– हैदराबाद राज्य का गठन– भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि में हैदराबाद राज्य का गठन एक महत्वपूर्ण घटना थी। हैदराबाद राज्य का गठन निम्नलिखित मुख्य घटनाओं के परिणामस्वरूप हुआ–

(1) **निजामी राजकुमारी और हैदराबाद आन्दोलन–** हैदराबाद राज्य का गठन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के साथ जुड़ा था। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय हैदराबाद राज्य के निजाम की राजकुमारी और उसके साथी लोग स्वतंत्रता सेनानी बने थे। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के पक्ष में कार्रवाई की। इस हेतु राजकुमारी की बहादुरी को बहुत प्रशंसा मिली।

(2) **गोलकुण्डा रियासत का विलय–** वर्ष 1948 में हैदराबाद राज्य के निजाम, मीर उस्मान अली खाँ, ने हैदराबाद का भारतीय संघ में विलय का निर्णय लिया। इसके परिणामस्वरूप, हैदराबाद राज्य का यह विलय 17 सितम्बर, 1948 को हुआ। हैदराबाद राज्य का गठन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के परिणामस्वरूप हुआ था। यह भारतीय संघ के गठन में एक महत्वपूर्ण कदम था।

इस घटना के पश्चात् हैदराबाद राज्य का क्षेत्र और आबादी भारतीय संघ के अन्तर्गत आ गई और यह भारतीय संघ के एक समृद्ध और सांस्कृतिक भिन्नता का हिस्सा बन गया।

वर्तमान में, हैदराबाद तेलंगाना राज्य की राजधानी और आंध्रप्रदेश राज्य की अस्थायी राजधानी है। कुतुब शाही राजवंश के पांचवें सुल्तान मोहम्मद कुली कुतुब शाह द्वारा वर्ष 1591 में स्थापित यह शहर, 400 वर्षों से अधिक की समृद्ध मिश्रित सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक परम्परा के साथ अतीत की एक आकर्षक झांकी प्रस्तुत करता है।

प्रश्न–6. हैदराबाद के इतिहास तथा इसके भारत में विलय को समझाइये।

अथवा

हैदराबाद कैसे भारत का हिस्सा बना? भारत में इसका क्या महत्व है? समझाइए।

उत्तर– हैदराबाद का इतिहास– सन् 1591, में मूसी नदी के तट पर मोहम्मद कुली कुतुब शाह ने हैदराबाद शहर की स्थापना थी। वर्तमान में हैदराबाद लगभग 650 वर्ग किमी. क्षेत्र में फैला हुआ है। हैदराबाद तथा सिकंदराबाद ये जुड़वाँ शहर हैं जो कि एक ही नगर निगम द ग्रेटर हैदराबाद नगर निगम के क्षेत्र में आते हैं।

सन् 1947 में भारत की स्वतंत्रता के बाद, निजाम अपने राज्य को नवगठित राष्ट्र में शामिल नहीं करना चाहते थे। तब तक तेलंगाना आन्दोलन के कारण उनकी शक्ति कमजोर हो चुकी थी। सन् 1948 में हैदराबाद पर भारतीय सेना ने कब्जा कर लिया। वर्ष 1956 में हैदराबाद राज्य, भाषायी मतभेदों के आधार पर विभाजित हो गया और हैदराबाद शहर आंधप्रदेश की राजधानी बन गया। 2014 में तेलंगाना राज्य को आंध्रप्रदेश से अलग कर दिया गया और हैदराबाद को इसकी नई राजधानी बनाया गया।

26 अक्टूबर, 1947 जम्मू-कश्मीर का और 20 फरवरी, 1948 को जूनागढ़ का भारत में विलय हो गया। लेकिन हैदराबाद रियासत के निजाम ने भारत में विलय के प्रस्ताव को किसी भी कीमत पर मंजूर न करते हुए स्वयं को स्वतंत्र रहने की घोषणा कर दी थी। स्वतंत्र भारत के लिए न तो भौगोलिक रूप से और न ही सांस्कृतिक तथा राजनीतिक रूप से ही यह संभव था कि हैदराबाद देश के बीचों-बीच एक नासूर की तरह बना रहे।

15 अगस्त, 1947 को भारत को स्वतंत्रता क्षत-विक्षत रूप में मिली। अंग्रेजों ने देश का विभाजन तो कर ही दिया था साथ में 565 देशी रियासतों वैसा ही (उन्होंने अपने हाल पर) छोड़ दिया, जिन्हें अंग्रेजों की कूटनीति के चलते भारतीय संघ में शामिल होने या न होने का अधिकार दे दिया गया था। हैदराबाद, जूनागढ़, जम्मू-कश्मीर और रियासतों ने अंग्रेजों की इसी चाल का लाभ उठाते हुए भारत में विलय नहीं करके स्वतंत्र रहने की बात कही। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में राष्ट्र की एकता और अखंडता को सभी प्रकार से खतरा था।

इस खतरे को भाँपकर स्वतंत्र भारत के प्रथम गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अनेक मुश्किलों और चुनौतियों का सामना करते हुए न केवल इन रियासतों का भारत संघ में विलय करके भारत को सुदृढ़ किया, वरन् उसे स्थायित्व भी प्रदान किया। स्वतंत्र भारत के एकीकरण की इस प्रक्रिया में सबसे अन्त में हैदराबाद रियासत का विलय हुआ। जो स्वतंत्रता के एक वर्ष पश्चात् अत्यधिक संघर्ष के बाद संभव हुआ और तब कहीं जाकर भारत का एकीकरण पूरा हुआ तथा राष्ट्र को स्थायित्व मिला।

प्रश्न–7. हैदराबाद की केस स्टडी कीजिए।

उत्तर– हैदराबाद, भारत का एक महत्वपूर्ण शहर है और इसे "निजामों का शहर" कहा जाता है। हैदराबाद के इतिहास, संस्कृति और आर्थिक विकास के अनेक पहलुओं की एक मानक केस स्टडी निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है–

(1) **ऐतिहासिक दृष्टि से–** हैदराबाद का इतिहास अत्यन्त रूचिकर है। यह निजामों के शासनकाल में एक महत्वपूर्ण शहर था। इसके पास अपनी स्वयं की संस्कृति और इतिहास है। इस शहर के इतिहास के महत्वपूर्ण पलों जैसे कि निजामी सल्तनत के बारे में, चौदहवीं सदी के मुगल साम्राज्य के तहत हैदराबाद की स्थापना तथा विकास के बारे में अध्ययन किया जा सकता है।

(2) **सांस्कृतिक दृष्टि से–** हैदराबाद एक विविध संस्कृति से परिपूर्ण एक मिलनसार (दोस्ताना) शहर है। इसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख और अनेक अन्य समुदाय भी निवास करते हैं। इसके साथ ही, यह मिलनसार (दोस्ताना) संस्कृति का भंडार है, जिसमें खाना, फैशन और कला के क्षेत्र में विविधता है। इसकी सांस्कृतिक धरोहरों के अध्ययन करने में रूचि रखने वाले व्यक्ति इसका अध्ययन कर सकते हैं।

(3) **अर्थव्यवस्था और विकास की दृष्टि से–** हैदराबाद एक विकासशील शहर है। इसकी तकनीकी क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका है। इसे "हाइटेक सिटी" के रूप में जाना जाता है, जिसमें सॉफ्टवेयर, बायोटेक्नोलॉजी, फार्मा सेक्टर और अन्य क्षेत्रों में उद्योगों का विकास हो रहा है। इसकी अर्थव्यवस्था, विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम हो सकती है।

(4) **राजनीति और सरकार–** हैदराबाद तेलंगाना राज्य की राजधानी है अतः यह शहर भारतीय राजनीति में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके राजनीतिक इतिहास, स्थानीय सरकार और राजनीतिक प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया जा सकता है।

प्रश्न–8. गोवा की केस स्टडी कीजिए।

उत्तर– गोवा की केस स्टडी– क्षेत्रफल तथा जनसंख्या के अनुसार गोवा भारत का सबसे छोटा राज्य है। गोवा अपने सुन्दर समुद्री बीच के लिए प्रसिद्ध है। गोवा पर पुर्तगालों ने 450 वर्ष शासन किया और 19 दिसम्बर, 1961 को भारत प्रशासन को सौंप दिया। गोवा के दक्षिण गोवा और उत्तर गोवा नामक दो जिले हैं। गोवा की राजधानी पणजी है। कोंकणी, हिन्दी, अंग्रेजी तथा मराठी गोवा की प्रमुख भाषायें हैं।

गोवा अपनी सुन्दर समुद्री किनारों, पर्यटन स्थलों, सांस्कृतिक धरोहरों तथा मनोरंजन के लिए प्रसिद्ध है। गोवा के बारे में कुछ महत्वपूर्ण जानकारी निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **स्थिति–** गोवा भारत के पश्चिमी तट तथा अरब सागर के किनारे पर स्थित है।

(2) **भूगोल–** यह एक छोटा-सा राज्य है जिसका क्षेत्रफल लगभग 3,702 वर्ग किलोमीटर है। गोवा की समुद्री किनारों की लम्बाई लगभग 101 किलोमीटर है।

(3) **राजधानी–** गोवा की राजधानी पणजी है।

(4) **भाषा–** कोंकणी तथा मराठी गोवा की प्रमुख भाषाएँ हैं, इंग्लिश भी यहाँ पर बोली जाती है।

(5) **पर्यटन–** गोवा भारत में पर्यटन का एक महत्वपूर्ण केन्द्र है। यहाँ पर सुन्दर समुन्दर किनारे, पैमेंटो बीच और पैमेंटो पार्टी पर्यटन के लिए प्रसिद्ध है।

(6) **सांस्कृतिक धरोहर–** गोवा भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विरासत के मामले में बहुत समृद्ध है। यहाँ पर पोर्तुगीज़, हिन्दू और कैथोलिक सांस्कृतिक तत्वों का मिश्रण है। गोवा के विशेष धार्मिक त्यौहार, फेस्टिवल और सांस्कृतिक प्रदर्शन भी खूबसूरत होते हैं।

(7) **पर्यटन स्थल–** गोवा में अनेक पर्यटन स्थल हैं जैसेकि– अगुड़ा फोर्ट, डूडशागर झरने, बसीलिका ऑफ बॉम जीसस तथा बोंदला विलाज उद्यान, यह पर्यटकों के बीच मशहूर हैं।

(8) **खाद्य संस्कृति–** गोवा की अनूठी खाद्य संस्कृति भी है। यहाँ पर समुद्री भोजन तथा स्वादिष्ट सांस्कृतिक व्यंजनों में सुगन्धित मसालों का उपयोग किया जाता है।

(9) **गोवा सरकार–** गोवा का सरकारी तंत्र भारतीय संघ के अन्तर्गत चलता है और गोवा विधानसभा में प्रतिनिधित्व होता है।

इस प्रकार गोवा एक खूबसूरत पर्यटन स्थल है जो कि पर्यटकों को अपनी सुन्दरता, सांस्कृतिक विरासत का आनन्द लेने के लिए प्रसिद्ध है।

प्रश्न–9. गोवा का इतिहास तथा भारत में इसके विलय को समझाइए।

उत्तर– गोवा कोंकण तट पर स्थित है और एक प्राकृतिक बंदरगाह होने के साथ ही भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय पर्यटन स्थलों में से एक है। यहाँ पर दर्शनीय समुद्र तट जैसे वेगाटर समुद्र तट, अंजना समुद्र तट के साथ समुद्र तटों की रानी कहा जाने वाला कैलांगयुत समुद्र तट स्थित है। यहाँ पर काफी संख्या में केसीनो हैं। रणनीतिक भौगोलिक अवस्थिति के साथ ही गोवा का एक रोचक अतीत भी है। गोवा का इतिहास तीसरी सदी ईसा पूर्व से प्रारम्भ होता है। यहाँ पर मौर्य वंश द्वारा शासन की स्थापना के पश्चात् सातवाहन शासकों द्वारा राजकाज चलाया गया। इसके बाद 580 ईस्वी से 750 ईसवी तक बादामी शासकों ने शासन संभाला। 1312 ईस्वी में गोवा दिल्ली सल्तनत के अधीन आ गया। कुछ समय पश्चात् गोवा पर लगभग 100 वर्षों के लिए विजयनगर राज्य का शासन रहा। विजयनगर के पश्चात् यहाँ पर बीजापुर के शासक आदिलशाह ने शासन किया।

गोवा वेल्हा को आदिलशाह ने अपनी दूसरी राजधानी बनाया। इसी कालखंड में भारत में पुर्तगालियों का आगमन हुआ। पुर्तगालियों ने अपने साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया में गोवा को भी अपने अधिकार क्षेत्र में शामिल किया। पुर्तगाली गवर्नर अल्फांसों डी अल्बुकर्क ने वर्ष 1510 में गोवा पर आक्रमण किया और बिना किसी संघर्ष के ही गोवा पर पुर्तगालियों ने कब्जा कर लिया। लगभग 450 वर्षों तक गोवा पर पुर्तगालियों का कब्जा रहा।

पुर्तगाल द्वितीय विश्व युद्ध बाद नाटो का सदस्य बना। सालाजार गोवा को भी पुर्तगाल का हिस्सा मानते हैं। भारत लगातार पुर्तगाली प्रशासन से गोवा की स्वतंत्रता की बातचीत के

प्रयास करता था। लेकिन पुर्तगाली प्रशासन कभी भी इस बावत् वार्ता करने को तैयार ही नहीं होता था। इसी दौरान गोवा में आजाद गोमांतक दल और गोवा लिबरेशन आर्मी द्वारा सशस्त्र क्रान्ति के भी प्रयास किए जाते रहे। वर्ष 1954 में फ्रांसीसी कॉलोनी पुडुचेरी का शान्तिपूर्वक विलय कर लिया गया तब गोवा में भी आजादी की लड़ाई तेज हो जाती है। गोवा की आजादी के लिए दक्षिणपंथी और वामपंथीय दोनों ही गुटों द्वारा प्रयास किए गए।

भारत ने वर्ष 1961 में इस मामले का हल सैन्य कार्रवाई के माध्यम से किये जाने का निश्चय किया। 17 दिसम्बर, 1961 को भारतीय सेना ने गोवा में प्रवेश किया और मात्र 36 घण्टों में ही गोवा को सेना ने आजादी दिलाई। 19 दिसम्बर को भारतीय मानचित्र पर गोवा, दमन और दीव नामक एक केन्द्र प्रशासित क्षेत्र का आकार ले लिया और 30 मई, 1987 को गोवा को एक राज्य के रूप में मान्यता मिल गई।

इस प्रकार 30 मई, 1987 को गोवा राज्य का भारत में विलय हो गया। पहले गोवा एक केन्द्र शासित प्रदेश था, लेकिन 1987 में भारत सरकार ने इसे एक राज्य के रूप में स्थापित किया।

प्रश्न–10. कश्मीर के भारत में विलय कैसे हुआ? समझाइए।

उत्तर– कश्मीर का विलय– कश्मीर का राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेष स्थान है। कश्मीर के मुद्दे पर भारत और पाकिस्तान के बीच तीन युद्ध हो चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र के सामने सन् 1948 से इसकी स्थिति से सम्बन्धित मामला पेन्डिंग रखा हुआ है। कश्मीर पिछले कुछ वर्षों से महाशक्तियों के लिए भी राजनीति का विषय बना रहा है।

जब ब्रिटिश सरकार ने सन् 1947 में भारत को दो भागों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में विभाजित किया उस समय कश्मीर पर लोकप्रिय तथा निरंकुश महाराजा हरिसिंह का शासन था। कश्मीर में शायद इस आशा में कि वह भारत तथा पाकिस्तान से अलग एक स्वतंत्र एवं स्वायत्त शासन स्थापित कर सकेगा दोनों राज्यों में से किसी एक में भी विलय होने के दबाव का प्रतिरोध किया। अपने महत्वाकांक्षी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु उसने पाकिस्तान के साथ 16 अगस्त, 1947 को एक समझौता किया और ऐसा ही एक समझौता भारत के साथ भी करने का निश्चय किया। फिर भी स्वतंत्रता की घोषणा के साथ जब देश का भारत तथा पाकिस्तान दो भागों में विभाजन हुआ तब पंजाब में हिन्दुओं, सिखों तथा मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक दंगे भड़क गये। दंगे मुसलमानों के विरूद्ध सितम्बर में प्रारम्भ हुए। कश्मीर के पश्चिमी भाग से मुसलमानों ने महाराज हरिसिंह के विरूद्ध विद्रोह कर दिया और कश्मीर में अपनी स्वतंत्र सरकार स्थापित कर ली।

उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त के सशस्त्र पठान कबीलों ने इस अवसर का लाभ उठाने के उद्देश्य से अवशेष राज्य को पाकिस्तान में सम्मिलित कराने हेतु कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से सावधान होकर हरिसिंह ने भारत से सैनिक सहायता की मांग की परन्तु भारत ने तब तक मदद करने से इंकार कर दिया जब तक राजा हरिसिंह विलय पत्र पर हस्ताक्षर नहीं कर देते। नेशनल कांस पार्टी के धर्मनिरपेक्ष तथा लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला से सहमति प्राप्त होने के पश्चात् भारत ने इस विलय को स्वीकार किया। हरिसिंह ने

इस समझौते पर 27 अक्टूबर, 1947 को हस्ताक्षर किए और उसी दिन भारतीय सेना ने छापामारों को पीछे धकेलने के लिए कश्मीर में प्रवेश किया। स्थानीय मुसलमानों ने भारतीय सेना का साथ दिया।

भारत के इस हस्तक्षेप से पाकिस्तान के गवर्नर जनरल मुहम्मद अली जिन्ना क्रोधित हुए। 27 अक्टूबर को पाकिस्तान सेना के प्रमुख लेफ्टिनेंट जनरल सर डग्लस ग्रेसी को उसने आदेश दिया कि वह पाकिस्तान की नियमित सेना कश्मीर के लिए रवाना करे परन्तु फील्ड मार्शल आर्ट इन लेख जोकि संक्रमण काल का सुप्रीम कमांडर था ने जिन्ना से अपने द्वारा जारी किए गए आदेश को वापस लेने के लिए अनुरोध किया। नवम्बर माह में आक्रमणकारियों की सैनिक टुकड़ी भेजने के हस्तान्तरण को जिन्ना ने स्वीकृति दे दी और 1948 के प्रारम्भ में पाकिस्तान ने आक्रमणकारियों को सहयोग देने के लिए स्वयंसेवकों के रूप में नियमित सेना भेजी और जुलाई 1948 तक पाकिस्तान ने अपने द्वारा प्रत्यक्ष रूप से लड़ाई में भाग लेने से इंकार किया और तत्पश्चात् पाकिस्तान ने इस सत्य को स्वीकार किया।

प्रश्न–11. कश्मीर की केस स्टडी कीजिए।

उत्तर– कश्मीर का इतिहास– कश्मीर भारत का बहुत ही महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह भारत के उत्तरी भागों में स्थित है। कश्मीर को केन्द्र–शासित प्रदेश बनाया हुआ है। कश्मीर पूरे विश्व का अत्यधिक सुन्दर स्थान है। इसे धरती का स्वर्ग भी कहा जाता है। कश्मीर की पश्चिमी सीमा पर पाकिस्तान, दक्षिणी सीमा पर श्रीलंका और उत्तरी एवं पूर्वी सीमा पर चीन है। यहाँ का क्षेत्रफल लगभग 54,571 वर्ग मील है।

1 जनवरी, 1948 को भारत में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में कश्मीर का मुद्दा उठाया था। संयुक्त राष्ट्र संघ अमेरिका ने 17 जनवरी, 1948 को भारत तथा पाकिस्तान से कहा था कि वह हालत को सुधारने का प्रयास करें और प्रत्येक भौतिक परिवर्तन करते रहें, जिससे लोगों को परेशानियों का सामना न करना पड़े और इस मुद्दे को समझदारी के साथ हल किया जाए।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान का काफी लम्बे समय से विवाद चला आ रहा है। पाकिस्तान के द्वारा निरन्तर कश्मीर को लेकर भारत पर आतंकी हमले होते ही रहते हैं। कश्मीर के मामले में राजनीतिक संघर्ष आजादी के बाद से ही चला आ रहा है। कश्मीर के मामले की एक संक्षिप्त केस स्टडी निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **मामले की शुरूआत–**

(i) वर्ष 1947 में भारत का स्वतंत्रता संग्राम समाप्त हो गया और भारत स्वतंत्र हुआ।

(ii) स्वतंत्रता पूर्व कश्मीर में महाराजा हरीसिंह की सरकार थी और उसने स्वतंत्रता के बाद भारत या पाकिस्तान के साथ शामिल होने का फैसला करना मुश्किल कर दिया।

(2) **हार–जीत का विवाद–**

(i) वर्ष 1947 में, पाकिस्तान से आक्रमण की खबरें आई और महाराजा हरीसिंह ने भारत सरकार से सहायता माँगी।

(ii) भारत सरकार ने महाराजा से एक समझौता किया, जिसके अनुसार कश्मीर का भारत से विलय हुआ।

(3) **कश्मीर के विभाजन–**

(i) भारत और पाकिस्तान के बीच 1947–48 में कश्मीर का विभाजन हुआ।

(ii) कश्मीर का उत्तराधिकार भारतीय संघ के पास है, जबकि अखनूर आजाद जम्मू और कश्मीर और गिलगिट–बाल्टिस्तान को पाकिस्तान के अधीन रखा गया है।

(4) **आर्टिकल 370–**

(i) आर्टिकल 370 के तहत वर्ष 2019 के पहले कश्मीर को मिले विशेष दर्जे के कारण, भारतीय संविधान की कुछ विशेष धाराएँ कश्मीर के लिए लागू नहीं होती थीं।

(ii) भारत सरकार ने वर्ष 2019 में आर्टिकल 370 को समाप्त किया, जिससे कश्मीर का विशेष दर्जा भी समाप्त हो गया।

(5) **कश्मीर में उपद्रव तथा आंतकी हमले–**

(i) कश्मीर में प्रायः उपद्रव और आतंकवाद की समस्या बनी रहती है।

(ii) भारत और पाकिस्तान के बीच समय–समय पर संघर्ष होता रहा है और इसके परिणामस्वरूप परस्पर दोनों के सम्बन्धों में कटुता बनी हुई है।

निष्कर्ष– कश्मीर मुद्दा एक जटिल और दीर्घकालिक विवाद है और इसका समाधान खोजने हेतु सभी हितधारकों की सद्भावना, सहयोग और निरन्तर प्रयासों की आवश्यकता है। इस हेतु अन्तिम लक्ष्य एक ऐसा वातावरण बनाने का होना चाहिए जहाँ कश्मीर के लोग शान्ति, सुरक्षा और समृद्धि से अपना जीवनयापन कर सकें, तथा उनके अधिकारों व आकांक्षाओं का सम्मान एवं सुरक्षा हो।

इकाई-2

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ क्या हैं? इनके क्या कार्य हैं?

अथवा

विभिन्न औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ– औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग और सामाजिक–आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से स्थापित की गई हैं। इन इकाइयों का प्रमुख कार्य विश्व स्तर पर सहयोग, सम्बन्ध निर्माण और विभिन्न क्षेत्रों में सुधार करना है। कुछ महत्वपूर्ण औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों का परिचय निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **विश्व बैंक–** विश्व बैंक की स्थापना सन् 1944 में की गई थी। इसका मुख्य कार्य विकास गति को सुधारना और गरीब देशों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है।

(2) **संयुक्त राष्ट्र–** संयुक्त राष्ट्र की स्थापना सन् 1945 में की गई थी। इसका मुख्य कार्य शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, मानव अधिकारों की सुरक्षा करना, विकास को प्रोत्साहित करना और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देना है।

(3) **अफ्रीकी संघ–** अफ्रीकी संघ की स्थापना सन् 2001 में की गई। इसका मुख्य कार्य अफ्रीकी देशों के बीच सहयोग, एकता और विकास को प्रोत्साहित करना है।

(4) **विश्व स्वास्थ्य संगठन–** विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना सन् 1948 में की गई। इसका मुख्य कार्य विश्वभर में स्वास्थ्य सेवाओं को सुधारना और स्वास्थ्य सम्बन्धित मुद्दों पर नेतृत्व करना है।

(5) **यूरोपीय संघ–** यूरोपीय संघ की स्थापना सन् 1951 में की गई। इसका मुख्य कार्य यूरोप में आर्थिक एकीकरण, शान्ति और सार्वजनिक सुरक्षा बनाए रखना है।

(6) **अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी–** अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी की स्थापना सन् 1957 में की गई। इसका मुख्य कार्य परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग की निगरानी करना और सुरक्षा प्रमाणित करना है।

(7) **विश्व व्यापार संगठन–** विश्व व्यापार संगठन की स्थापना सन् 1995 में की गई। इसका मुख्य कार्य पूरे विश्व में व्यापार को सुधारने, संरक्षण और प्रमोट करने हेतु व्यापार निर्देशिकाओं को स्थापित करना है।

(8) **नाटो–** नाटो की स्थापना सन् 1949 में की गई। इसका मुख्य कार्य अद्वितीय रक्षा संगठन के रूप में उपयोग करने हेतु नाटो के सदस्य देशों के बीच सामरिक सहयोग और सुरक्षा प्रदान करना है।

(9) **अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग संगठन–** अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग संगठन की स्थापना सन् 1944 में की गई। इसका मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक और वित्तीय सहायता प्रदान करना और स्थिरता बनाए रखना है।

इन औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों के माध्यम से पूरे विश्व में सामाजिक, आर्थिक और संगठनिक मुद्दों का समाधान और विकास कार्य किए जाते हैं और विभिन्न देशों के बीच सहयोग को बढ़ावा दिया जाता है।

औपनिवेशिक प्रशासन क्या है?

औपनिवेशिक प्रशासन– यह एक कमजोर राष्ट्र पर एक शक्तिशाली राष्ट्र के राजनीतिक नियंत्रण का विस्तार है। इसका आशय यह है कि कमजोर राष्ट्र पर राजनीतिक रूप से प्रभुत्व होता है और संयुक्त राष्ट्र उसका आर्थिक रूप से शोषण करता है। उपनिवेशवाद को साम्राज्यवाद भी कहा जाता है।

औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ क्या हैं?

औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ (सामान्यतः औपनिवेशिक प्रशासनिक संगठन) विशेष औपनिवेशिक प्रशासनिक कार्यों को प्रबंधित करने और संचालित करने के लिए बनाई गई सरकारी या गैर–सरकारी संगठन होती है। ये संगठन विभिन्न क्षेत्रों में काम कर सकते हैं, जैसे कि स्वास्थ्य, शिक्षा, वित्त, कृषि, यातायात और अन्य।

सामान्यतः औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ सरकारी मंत्रालय, विभाग, निगम और विभिन्न सरकारी या सरकारी अधिकृत संगठनों के रूप में होती हैं। इनका मुख्य कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित सरकारी नीतियों और कार्यों को लागू करना, संचालन करना और प्रबंधित करना होता है ताकि समाज को बेहतर सेवाएँ प्रदान की जा सकें।

इन इकाइयों का संचालन एक निर्दिष्ट नीति और विधियों के अनुसार होता है। इनका मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक लाभ की प्राप्ति करना होता है। इन इकाइयों के कर्मचारी सरकारी नौकरी करते हैं और वे समाज की सेवा करने हेतु जिम्मेदार होते हैं।

औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं–

(1) **विश्व स्वास्थ्य संगठन–** यह विश्व स्वास्थ्य के क्षेत्र में संचालित होता है और स्वास्थ्य सेवाओं को सुधार हेतु पूरे विश्व में काम करता है।

(2) **यूनाइटेड नेशन्स–** यूनाइटेड नेशन्स पूरे विश्व में शान्ति, सुरक्षा, मानव अधिकार और विकास के क्षेत्र में अनेक औपनिवेशिक प्रशासनिक कार्यों को संचालित करता है।

(3) **अमेरिका के यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट–** इसका कार्य अमेरिका के विदेश में बाहरी राज्यों और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के साथ सम्बन्धित है।

(4) **भारत के निगम–** भारत में विभिन्न सरकारी निगम और उपनिगम हैं, जो केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा संचालित होते हैं। ये विभिन्न क्षेत्रों में अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं, जैसे– बिजली, जल संसाधन, रेलवे आदि।

इन औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों की सामाजिक एवं आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने और यह सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है कि सरकारी संसाधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया जा रहा है अथवा नहीं।

प्रश्न–2. भारत में राज्यों की राजनीति में औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों के कार्य लिखिए।

अथवा

भारत में राज्यों की राजनीति में औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– भारत में राज्यों की राजनीति में औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ– भारत में राज्यों की राजनीति में औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ विभिन्न सरकारी और गैर–सरकारी संगठन होती हैं। ये राज्य सरकारों के अन्तर्गत काम करती हैं और विभिन्न प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं में शामिल होती हैं। ये प्रशासनिक इकाइयाँ राज्य सरकारों को सहायता और नेतृत्व प्रदान करने में सहायता करती हैं। राज्य की कुछ प्रमुख औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों के बारे में जानकारी निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **राज्य नीति आयोग–** अधिकांश राज्यों में, राज्य नीति आयोग योजनाओं, प्रोजेक्ट्स और विकास के क्षेत्र में सलाह देने हेतु स्थापित किया जाता है। यह आयोग राज्य सरकार को विकास योजनाओं की तैयारी और उनके प्रबंधन में सहायता करता है।

(2) **राज्य उपनिवेशिक संगठन–** यह संगठन राज्य में सरकारी नौकरियों की भर्ती के लिए जिम्मेदार होता है। इसका प्रमुख कार्य सरकारी नौकरियों की भर्ती प्रक्रिया को संचालित करना और परीक्षाओं का आयोजन करना होता है।

(3) **राज्य वित्त आयोग–** इस आयोग का प्रमुख कार्य राज्य के वित्तीय प्रबंधन को सुनिश्चित करना होता है। यह आयोग राज्य सरकार को वित्तीय संसाधनों का नियोजन एवं वित्तीय व्यवस्था को सुधारने के लिए सुझाव देता है।

(4) **राज्य जिला प्रशासनिक इकाइयाँ–** राज्यों में जिला प्रशासनिक इकाइयाँ होती हैं, जिनका काम जिले के प्रशासन, सुरक्षा और विकास को प्रबंधित करना होता है।

(5) **राज्य स्वास्थ्य विभाग–** इस विभाग का कार्य राज्य में स्वास्थ्य सेवाओं का प्रबंधन करना, स्वास्थ्य योजनाओं को लागू करना और स्वास्थ्य से सम्बन्धित मुद्दों का समाधान करना होता है।

(6) **राज्य पुलिस–** राज्य पुलिस राज्य की सुरक्षा और कानून और क्रिमिनल प्रक्रिया के नियमों का पालन करता है। यह बात की जाती है कि कानून और क्राइम के मामलों में कवर करने के लिए जिम्मेदार होता है।

(7) **राज्य सामाजिक कल्याण विभाग–** इस विभाग का काम सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों को प्रबंधित करना होता है, जैसे कि वरिष्ठ नागरिकों की सेवाएँ, महिला सशक्तिकरण और दलित तथा आदिवासी कल्याण कार्यक्रम।

(8) **राज्य शिक्षा विभाग–** यह विभाग राज्य में शिक्षा सेवाओं का प्रबंधन करता है, स्कूलों और कॉलेजों की नीतियों का अनुसरण करता है और शिक्षा क्षेत्र में सुधार को प्रोत्साहित करता है।

(9) **राज्य खेल और युवा मामले विभाग–** इस विभाग का काम खेल और युवा मामलों को प्रबंधित करना होता है, जैसे कि खेल का प्रोत्साहन और युवा विकास कार्यक्रमों को संचालन करना।

(10) **राज्य पुलिस बल–** इस बल का काम राज्य की सुरक्षा के जिम्मेदार होता है और यह सीमा सुरक्षा, आन्तरिक सुरक्षा एवं अन्य राजनीतिक और सुरक्षा कार्यों को संचालित करता है।

उपरोक्त औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयाँ भारतीय राज्यों में राजनीति और प्रशासन के विभिन्न पहलुओं में शामिल होती हैं। राज्य सरकारों की नीतियों को लागू करने और नागरिकों के लिए सेवाएँ प्रदान करने में मदद करने में इन इकाइयों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

औपनिवेशिक प्रशासनिक इकाइयों का इतिहास विश्वभर में राष्ट्रों के साथ–साथ बदला है और इन्होंने विभिन्न समस्याओं का समाधान करने हेतु अनेक कार्रवाइयाँ की हैं। ये संगठन आज भी सार्वजनिक सेवायें प्रदान करने और विश्वभर में सहयोग करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

प्रश्न–3. राज्यों के पुनर्गठन से क्या आशय है? पुनर्गठन के क्या उद्देश्य हैं?

उत्तर– राज्यों का पुनर्गठन– राज्यों का पुनर्गठन किसी देश के राज्यों या प्रान्तों की सीमाओं और प्रशासनिक प्रभागों को बदलने की प्रक्रिया को कहा जाता है। इसमें नये राज्यों का निर्माण, मौजूदा राज्यों का विलय या राज्य की सीमाओं को फिर से परिभाषित करना शामिल हो सकता है। राज्य पुनर्गठन का प्राथमिक उद्देश्य बेहतर शासन प्राप्त करना, प्रशासनिक दक्षता में सुधार लाना और सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या ऐतिहासिक कारकों को सम्बोधित करना होता है।

राज्यों का पुनर्गठन (भारत के सन्दर्भ में) ऐतिहासिक रूप से एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही है। 1956 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के बाद 1956 में भारत में एक प्रमुख राज्य पुनर्गठन हुआ। यह पुनर्गठन भाषायी अन्तर, सांस्कृतिक विविधता और प्रशासनिक दक्षता सहित विभिन्न कारकों से प्रेरित था।

भारतीय जनता ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के पहले से ही भाषा के आधार पर राज्यों को पुनर्गठन करने की माँग की थी, लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात् इसकी माँग और बढ़ गई। राजनीतिक कारणों से, स्वतंत्रता के पहले और बाद में भारत का सबसे बड़े राजनीतिक दल कांग्रेस ने भाषा के आधार पर राज्यों की पुनर्गठन की माँग का समर्थन किया।

प्रश्न–4. राज्यों के पुनर्गठन के तहत कौन–कौन से मुद्दे शामिल होते हैं? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– राज्यों के पुनर्गठन के तहत मुद्दे– राज्यों का पुनर्गठन, चाहे भारत में हो या अन्य देशों में, प्रायः अनेक जटिल मुद्दे और चुनौतियाँ शामिल होती हैं। राज्य पुनर्गठन की प्रक्रिया के दौरान प्रायः सामने आने वाले कुछ प्रमुख मुद्दे निम्नवत् हैं–

(1) **भाषायी एवं सांस्कृतिक पहचान–** भाषा तथा संस्कृति प्रायः राज्य पुनर्गठन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समुदाय भाषायी और सांस्कृतिक पहचान के आधार पर अलग राज्यों या क्षेत्रों की माँग कर सकते हैं। इसमें चुनौती प्रशासनिक व्यवहार्यता के साथ भाषायी और सांस्कृतिक आकांक्षाओं को सन्तुलित करने की है।

(2) **आर्थिक असमानताएँ–** राज्यों के पुनर्गठन से क्षेत्रों के बीच आर्थिक असमानताएँ पैदा हो सकती हैं। कुछ क्षेत्र आर्थिक रूप से मजबूत हो सकते हैं, जबकि अन्य कमजोर हो सकते हैं। संसाधनों और विकास के अवसरों का समान वितरण सुनिश्चित करना एक चुनौती है।

(3) **ऐतिहासिक दावे–** राज्य या विशिष्ट क्षेत्रीय क्षेत्रों के ऐतिहासिक दावे पुनर्गठन प्रयासों को जटिल बना सकते हैं। ऐतिहासिक शिकायतों वाले समुदाय या क्षेत्र अलग राज्य की माँग कर सकते हैं।

(4) **राजनीतिक प्रतिनिधित्व–** नए राज्यों का निर्माण या मौजूदा राज्यों का विलय राजनीतिक प्रतिनिधित्व पर प्रश्न–चिन्ह लगाता है। विधायी सीटों, निर्वाचन क्षेत्रों और राजनीतिक शक्ति–साझाकरण व्यवस्था की संख्या निर्धारित करना विवादास्पद हो सकता है।

(5) **प्रशासनिक दक्षता–** राज्य पुनर्गठन का एक प्राथमिक लक्ष्य अक्सर प्रशासनिक दक्षता में सुधार करना होता है। छोटे राज्य बनाने से शासन व्यवस्था में सुधार हो सकता है, लेकिन इसके लिए राज्य स्तर पर प्रशासनिक क्षमता का निर्माण भी आवश्यक है।

(6) **अन्तर–राज्यीय विवाद–** राज्य की सीमाओं में परिवर्तन से अन्तर–राज्यीय विवाद (विशेष रूप से सीमावर्ती क्षेत्रों, जल संसाधनों और क्षेत्राधिकार सम्बन्धी मामलों पर) हो सकते हैं, इन विवादों को सुलझाने में समय लग सकता है और इसके लिए कानूनी तंत्र की आवश्यकता होती है।

(7) **संसाधन आवंटन–** राज्य पुनर्गठन जल, भूमि और प्राकृतिक संसाधनों के वितरण सहित संसाधन आवंटन को प्रभावित कर सकता है। निष्पक्ष और टिकाऊ संसाधन साझाकरण व्यवस्था सुनिश्चित करना एक चुनौती हो सकती है।

(8) **बुनियादी ढाँचे का विकास–** नए राज्यों को प्रायः प्रशासनिक भवनों, शैक्षणिक संस्थानों, स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं तथा परिवहन नेटवर्क सहित बुनियादी ढाँचे में महत्वपूर्ण निवेश की आवश्यकता होती है।

(9) **प्रवासन और पुनर्वास–** राज्य पुनर्गठन के परिणामस्वरूप लोग एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवास कर सकते हैं। प्रवासन का प्रबंधन और विस्थापित समुदायों की जरूरतों को सम्बोधित करना महत्वपूर्ण मुद्दे है।

(10) **अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ–** कुछ मामलों में राज्य का पुनर्गठन अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं और पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्धों को प्रभावित कर सकता है, जिससे राजनयिक चुनौतियाँ पैदा हो सकती हैं।

(11) **कानूनी और संवैधानिक परिवर्तन–** राज्य पुनर्गठन के लिए संविधान और कानूनी ढाँचे में संशोधन की आवश्यकता हो सकती है। यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि कानूनी और संवैधानिक परिवर्तन सुचारु रूप से और बिना किसी विवाद के लिए जायें।

(12) **जनता की राय और स्वीकृति–** पुनर्गठन के लिए सार्वजनिक स्वीकृति और समर्थन प्राप्त करना चुनौतीपूर्ण हो सकता है। आम सहमति बनाने हेतु प्रभावी संचार और परामर्श प्रक्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं।

(13) **सामाजिक और साम्प्रदायिक सद्भाव–** पुनर्गठन के दौरान और बाद में सामाजिक और साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखना आवश्यक है। क्योंकि इससे जातीय या साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न हो सकते हैं इसलिए इस हेतु समावेशिता और सामाजिक एकजुटता को बढ़ावा हेतु प्रयास किए जाने आवश्यक हैं।

(14) **वित्तीय निहितार्थ–** नए राज्यों की आर्थिक स्थिरता के लिए राजस्व बँटवारे और राजकोषीय प्रबंधन सहित राज्य पुनर्गठन के वित्तीय निहितार्थ का आकलन जरूरी किया जाना चाहिए।

(15) **दीर्घकालिक योजना–** नवनिर्मित राज्यों की सफलता एवं स्थिरता सुनिश्चित करने हेतु राज्य पुनर्गठन के साथ-साथ शासन, विकास और संसाधन प्रबंधन की एक दीर्घकालिक योजना भी बनाई जानी आवश्यक है।

राज्य पुनर्गठन एक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया है जिसके इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु उपरोक्त तथा अन्य मुद्दों पर सावधानीपूर्वक विचार करने की आवश्यकता होती है, जिसमें प्रायः बेहतर प्रशासन, बेहतर प्रशासनिक दक्षता और विविध भाषायी, सांस्कृतिक और क्षेत्रीय पहचानों का समायोजन शामिल है।

प्रश्न–5. भारत में राज्यों के पुनर्गठन का दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य क्या है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर– भारत में राज्यों के पुनर्गठन का दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य– भारत में राज्य के पुनर्गठन का दृष्टिकोण बहुआयामी है और समय एवं परिस्थितियों के साथ विकसित हुआ है। यह भाषायी, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और प्रशासनिक विचारों सहित विभिन्न कारकों के बीच एक नाजुक संतुलन को दर्शाता है। भारत में राज्यों के पुनर्गठन पर कुछ प्रमुख दृष्टिकोण अथवा परिप्रेक्ष्य निम्नवत् हैं–

(1) **भाषायी पहचान–** भारत में राज्य पुनर्गठन को चलाने वाले प्राथमिक दृष्टिकोणों या एरिप्रेक्ष्यों में से एक भाषायी पहचान रही है। भाषायी राज्यों की माँग इस विश्वास पर आधारित थी कि जो लोग एक समान भाषा साझा करते हैं उनकी सांस्कृतिक, सामाजिक और प्रशासनिक जरूरतें समान होने की अधिक संभावना होती है। इस दृष्टिकोण/परिप्रेक्ष्य के कारण भाषायी आधार पर संगठित राज्यों का निर्माण हुआ।

(2) **प्रशासनिक दक्षता–** प्रशासनिक दक्षता की आवश्यकता एक अन्य महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। प्रायः यह माना जाता है कि छोटे राज्य अपनी आबादी की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु अधिक प्रबंधकीय और बेहतर ढंग से सुसज्जित होते हैं। इस बारे में बेहतर प्रशासन और सेवा वितरण केन्द्रीय लक्ष्य होता है।

(3) **सांस्कृतिक विविधता–** भारत अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विविधता के लिए जाना जाता है और राज्य पुनर्गठन इस विविधता को समायोजित और संरक्षित करने का एक साधन रहा है। विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान वाले छोटे राज्यों को प्रायः विभिन्न क्षेत्रों की अनूठी विरासत की रक्षा और प्रोत्साहन देने के एक तरीके के रूप में देखा जाता है।

(4) **राजनीतिक प्रतिनिधित्व–** छोटे राज्यों के निर्माण से विभिन्न क्षेत्रों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व बढ़ सकता है। इस परिप्रेक्ष्य को प्रायः ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहने वाले या कम प्रतिनिधित्व वाले समुदायों को सशक्त बनाने के एक तरीके के रूप में देखा जाता है।

(5) **ऐतिहासिक दावे–** भारत के कुछ क्षेत्रों में राज्य के दर्जे के ऐतिहासिक दावे हैं, जो कि प्रायः स्वतंत्र राज्यों या क्षेत्रों के रूप में उनके अतीत से जुड़े होते हैं। इन ऐतिहासिक दावों को पहचानना एवं उनका सम्मान करना राज्य पुनर्गठन का मार्गदर्शन करने वाला एक परिप्रेक्ष्य रहा है।

(6) **सामाजिक सद्भाव–** सामाजिक सद्भाव और साम्प्रदायिक शान्ति बनाए रखना एक महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। यह सुनिश्चित करना कि राज्य पुनर्गठन से सामाजिक या साम्प्रदायिक तनाव न हो, नीति निर्माताओं के लिए पहली प्राथमिकता है।

(7) **आर्थिक विकास–** राज्य पुनर्गठन को आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के साधन के रूप में भी देखा जाता है। छोटे राज्यों को अपनी अद्वितीय आर्थिक शक्तियों और विकास प्राथमिकताओं पर ध्यान केन्द्रित करने का बेहतर मौका मिल सकता है।

(8) **राजनयिक सम्बन्धों पर विचार–** ऐसे मामलों में जहाँ राज्य पुनर्गठन अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को प्रभावित करता है, राजनयिक विचार चलन में आते हैं। यह सुनिश्चित करना कि पुनर्गठन पड़ोसी देशों के साथ राजनयिक सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव न डालें, एक ऐसा परिप्रेक्ष्य है जो निर्णय लेने का मार्गदर्शन करता है।

(9) **संसाधन आवंटन–** उचित और न्यायसंगत संसाधन आवंटन एक आवश्यक परिप्रेक्ष्य है। राज्य पुनर्गठन संसाधन वितरण को प्रभावित कर सकता है और संसाधन साझाकरण में निष्पक्षता सुनिश्चित करने हेतु तंत्र पर विचार किया जाता है।

(10) **कानूनी एवं संवैधानिक ढाँचा–** राज्य पुनर्गठन को भारत के कानूनी और संवैधानिक ढाँचे के साथ जोड़ना एक महत्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य है। परिवर्तनों को सुविधाजनक बनाने हेतु संविधान में संशोधन और कानूनी प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है।

(11) **जनता की राय–** जनता की राय और लोगों की इच्छा मौलिक दृष्टिकोण है। राज्य पुनर्गठन के लिए प्रायः प्रभावित आबादी से व्यापक परामर्श और समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता होती है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह सकते हैं कि, भारत में राज्य पुनर्गठन पर परिप्रेक्ष्य ऐसे राज्यों को बनाने की इच्छा से आकार लिया गया है जो अपने लोगों की जरूरतों एवं आकांक्षाओं के प्रति अधिक संवेदनशील हों, कुशल शासन को बढ़ावा दें और भाषायी, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक विविधता को संरक्षित करे और उसका जश्न मनाएँ जो एक अभिन्न अंग है।

प्रश्न–6. भारत में राज्यों के पुनर्गठन से सम्बन्धित मुख्य बिन्दुओं को समझाइये।

अथवा

राज्यों के पुनर्गठन करते समय कौनसी बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए?

उत्तर– राज्यों के पुनर्गठन के समय ध्यान रखने योग्य बिन्दु– राज्यों के पुनर्गठन के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है–

(1) **सन्तुलन अधिनियम–** राज्य पुनर्गठन एक जटिल और चुनौतीपूर्ण प्रक्रिया है जिसमें भाषायी, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और प्रशासनिक विचारों सहित विभिन्न कारकों के बीच एक नाजुक सन्तुलन की आवश्यकता होती है।

(2) **दीर्घकालिक दृष्टिकोण–** राज्य पुनर्गठन को क्षेत्रों के विकास और शासन के लिए दीर्घकालिक दृष्टिकोण के एक भाग के रूप में देखा जाना चाहिए। इस हेतु सावधानीपूर्वक योजना, संसाधन आवंटन और प्रशासनिक क्षमता निर्माण की आवश्यकता है।

(3) **विविध परिप्रेक्ष्य–** भारत में राज्यों का पुनर्गठन विभिन्न दृष्टिकोणों/परिप्रेक्ष्यों और हितों को दर्शाता है। इसमें भाषायी और सांस्कृतिक पहचान को समायोजित करना, ऐतिहासिक दावों को सम्बोधित करना और प्रशासनिक दक्षता और शासन को बढावा देना शामिल है।

(4) **सार्वजनिक भागीदारी–** जनता की राय और लोगों की आकांक्षाओं तथा हितों को ध्यान में रखते हुए पुनर्गठन प्रक्रिया होनी चाहिए। परिवर्तनों की वैधता के लिए प्रभावित जनता से व्यापक परामर्श और समर्थन प्राप्त करना जरूरी है।

(5) **सामाजिक सामंजस्य–** सामाजिक और साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखना अतिआवश्यक है। समावेशिता को बढ़ावा देने के प्रयास किए जाने चाहिए और यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि राज्य पुनर्गठन से सामाजिक या साम्प्रदायिक तनाव न हो।

(6) **प्रशासनिक दक्षता–** राज्य पुनर्गठन का एक प्राथमिक लक्ष्य प्रशासनिक दक्षता को बढ़ाना है। छोटे राज्य प्रायः अधिक प्रभावी शासन और सेवा वितरण प्रदान कर सकते हैं।

(7) **संसाधन आवंटन–** आर्थिक असमानताओं को दूर करने और नव–निर्मित राज्यों की आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए उचित और न्यायसंगत संसाधन आवंटन करना अतिआवश्यक है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय विचार–** ऐसे मामलों में जहाँ राज्य पुनर्गठन अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को प्रभावित करता है, पड़ोसी देशो के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने हेतु राजनयिक विचारों को सावधानीपूर्वक प्रबंधित किया जाना चाहिए।

(9) **कानूनी और संवैधानिक ढाँचा–** राज्य पुनर्गठन से सम्बन्धित सभी परिवर्तन देश के कानूनी और संवैधानिक ढाँचे के अनुरूप होने चाहिए। संशोधन और कानूनी प्रक्रियाओं का सावधानीपूर्वक पालन किया जाना आवश्यक है।

(10) **सतत् समीक्षा–** राज्य पुनर्गठन एक सतत् प्रक्रिया है। बदलती हुई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करने हेतु इसकी निरन्तर समीक्षा और समायोजन किये जाने की आवश्यकता होती है।

प्रश्न–7. राज्य की राजनीति में भाषा, धर्म और पहचान निर्माण की क्या भूमिका है?

अथवा

राज्य की राजनीति को भाषा, धर्म और पहचान कैसे प्रभावित करते हैं? समझाइए।

अथवा

भारत में क्षेत्रीय पहचान को आकार देने में भाषा की भूमिका की संक्षिप्त कीजिए।

उत्तर– राज्य की राजनीति में भाषा, धर्म और पहचान निर्माण की भूमिका– भारत में राज्य की राजनीति में भाषा, धर्म और पहचान की भूमिका महत्वपूर्ण और जटिल है। ये कारक प्रायः विभिन्न तरीकों से राजनीतिक गतिशीलता को प्रभावित करते हैं। उनकी भूमिकाओं का वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) भाषा–

(अ) **भाषायी राज्य–** भारत में भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन एक महत्वपूर्ण राजनीतिक विकास था। इससे ऐसे राज्यों का निर्माण हुआ जहाँ अधिकांश जनसंख्या एक समान भाषा बोलती थी। राज्य के गठन के इस भाषायी आधार का उद्देश्य प्रभावी शासन और सांस्कृतिक संरक्षण सुनिश्चित करना था।

(ब) **पहचान और क्षेत्रीय राजनीति–** भाषा क्षेत्रीय पहचान का एक शक्तिशाली मार्कर है। राज्यों में राजनीतिक दल प्रायः समर्थन जुटाने हेतु भाषायी एवं सांस्कृतिक मुद्दों की पैरवी करते हैं। भाषायी अधिकारों और स्वायत्तता के आन्दोलनों ने तमिलनाडु, कर्नाटक एवं पश्चिम बंगाल जैसे स्थानों में राज्य की राजनीति को आकार दिया है।

(स) **भाषा–आधारित आरक्षण–** कुछ राज्यों की नीतियाँ ऐसी हैं जो भाषा या क्षेत्र के आधार पर शैक्षणिक संस्थानों और सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्रदान करती हैं। ये नीतियाँ भाषायी पहचान को दर्शाती हैं और ऐतिहासिक असन्तुलन को सम्बोधित करती हैं।

(2) धर्म–

(अ) **साम्प्रदायिक राजनीति–** साम्प्रदायिक राजनीति के माध्यम से राज्य की राजनीति में धर्म ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कुछ राजनीतिक दलों ने समर्थन प्राप्त करने के लिए धार्मिक पहचान और भावनाओं का सहारा लिया है। इसके कारण अनेक बार साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष भी हुआ है।

(ब) **अल्पसंख्यक अधिकार–** महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक आबादी वाले राज्यों में राजनीतिक दल प्रायः धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा की वकालत करते हैं। इसमें पूजा–स्थलों, व्यक्तिगत कानूनों और शैक्षणिक संस्थानों से सम्बन्धित मुद्दे शामिल हैं।

(स) **धार्मिक प्रभाव–** कभी–कभी धार्मिक नेताओं और संस्थाओं का राज्यों में राजनीतिक प्रभाव होता है। उनका समर्थन विशेषतः मजबूत धार्मिक उपस्थिति वाले क्षेत्रों में चुनावी नतीजों को प्रभावित कर सकता है।

(3) पहचान निर्माण–

(अ) **जाति–आधारित राजनीति–** जाति–आधारित पहचान संरचनाएँ राज्य की राजनीति को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती हैं। विशिष्ट जाति समूहों के हितों का प्रतिनिधित्व करने हेतु पार्टियाँ और आन्दोलन प्रायः जातिगत आधार पर चलते हैं। जाति–आधारित आरक्षण और नीतियाँ पहचान–आधारित राजनीति के केन्द्र में हैं।

(ब) **क्षेत्रीय पहचान–** क्षेत्रीय पहचान प्रायः राज्य की राजनीति को आकार देती है, राजनीतिक दल क्षेत्रीय स्वायत्तता और विकास पर जोर देते हैं। राज्य का दर्जा या बड़े राज्य अधिकारों के लिए आन्दोलन, जैसा कि तेलंगाना, असम और अन्य राज्यों में देखा गया है, क्षेत्रीय पहचान को दर्शाता है।

(स) **पहचान आन्दोलन–** लिंग, आदिवासी अथवा जातीय पहचान जैसी पहचान पर आधारित सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों का राज्य की राजनीति पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। वे हाशिए पर मौजूद समूहों के अधिकारों, प्रतिनिधित्व और न्याय की वकालत करते हैं।

(द) **अन्तर्विभागीयता–** राज्य की राजनीति में पहचान का निर्माण प्रायः अन्तर्विभागीय होता है, जिसमें व्यक्ति और समूह एक साथ पहचान के कई पहलुओं की पहचान करते हैं। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट जाति, भाषा और धर्म से जुड़ा हो सकता है, जिससे उसकी राजनीतिक पसंद प्रभावित हो सकती है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, भाषा, धर्म और पहचान निर्माण भारत में राज्य की राजनीति का अभिन्न अंग हैं। वे राजनीतिक विचारधाराओं, मतदाता व्यवहार और नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करते हैं। विविध पहचानों की जटिलताओं को प्रबंधित करना और समावेशिता सुनिश्चित करना भारतीय राज्यों में नीति निर्माताओं एवं राजनीतिक नेताओं हेतु महत्वपूर्ण चुनौतियाँ बनी हुई हैं।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) भारत के प्रमुख क्षेत्रीय दलों के नाम लिखिये।

उत्तर– (अ) नेशनल कॉन्फ्रेंस– काश्मीर के पराक्रमी स्वतंत्रता संग्राम सैनानी, शेख अब्दुल्ला के प्रयास से सन् 1938 में नेशनल कॉन्फ्रेंस की स्थापना हुई थी। उन्हें (शेख अब्दुल्ला) शेरे काश्मीर कहा जाता है।

(ब) असम गण परिषद्– असम गण परिषद् एक नये प्रकार का दल है जिसका उदय असम के छात्रों और नौजवानों की गतिविधियों और सक्रियता के कारण हुआ है। 1980 के असम स्टूडेण्ट यूनियन के तत्वावधान में प्रारम्भ किये गये आन्दोलन के फलस्वरूप यह दल विकसित हुआ।

(स) अकाली दल– अकाली दल की स्थापना 1921 में हुई थी। इसे गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति का आशीर्वाद और सहायता प्राप्त है। इसको भी ब्रिटिश 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति ने बढ़ावा देकर प्रतिक्रियावादी दल बना दिया था।

(द) द्रविड़ मुनेत्र कणगम और अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कणगम– यह दक्षिण भारत में चले एक गैर ब्राह्मण आन्दोलन की देन है। इसी उद्देश्य से स्वतंत्रता के पूर्व जस्टिस पार्टी बनी थी। इसी पृष्ठभूमि पर 1944 में नैयर ने द्रविड़ कणगम का निर्माण किया।

(स) तेलगू देशम्– आन्ध्र प्रदेश कांग्रेस का परंपरागत गढ़ था। 1983 में यहाँ प्रसिद्ध सिनेमा कलाकार एन.टी. रामाराव के नेतृत्व में तेलगू देशम् नामक पार्टी बनी। इसने कांग्रेस का तख्ता पलट दिया, क्योंकि जनता परिवर्तन चाहती थी।

प्रश्न–(2) भारतीय राजनीति पर क्षेत्रीयता का प्रभाव संक्षेप में बताइये।

उत्तर– भारतीय राजनीति पर क्षेत्रीयता का प्रभाव– क्षेत्रवाद एक भयंकर राजनीतिक बुराई है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है - "क्षेत्रीयतावाद से यहां हमारा तात्पर्य एक देश या देश के किसी भाग से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिये जागरुक हो।"

भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में क्षेत्रवाद का अर्थ है राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा किसी प्रान्त के प्रति विशेष लगाव अथवा प्रेम दिखाना। भारत में यह संकुचित प्रवृत्ति सम्पूर्ण देश में व्याप्त है। इससे प्रोत्साहित होकर यहां अनेक आन्दोलन किये जाते रहे हैं।

इकाई-3

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. भारतीय राजनीति को क्षेत्रवाद किस प्रकार प्रभावित करता है? संक्षेप में विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में क्षेत्रीयतावाद के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की समस्या पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की भूमिका पर प्रकाश डालिये।

अथवा

क्षेत्रवाद पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की भूमिका की विवेचना कीजिये।

उत्तर– भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद– भारत, विभाजन के बाद भी एक विशाल देश है। यहाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के साथ–साथ विभिन्न भाषा–भाषी भारत के विभिन्न प्रान्त हैं। इन पृथक–पृथक क्षेत्रों की राजनीतिक पहचान यद्यपि प्राचीन काल से भारत के रूप में की जाती रही है। स्वतन्त्रता के पूर्व भी ब्रिटिश शासन–काल में भारत एक इकाई था, परन्तु आज इसकी विभिन्न इकाईयाँ भी पृथक क्षेत्रवाद की शिकार हैं। पृथकतावाद के बीज यद्यपि ब्रिटिश–काल में बोये गये थे, परन्तु ब्रिटिश शासन–काल में ही प्रशासकीय और शासकीय

मजबूरी के कारण राष्ट्रीय एकीकरण भारत के अंग्रेज शासकों को करना पड़ा था। भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारणों से भारत में एकीकरण के तत्व विद्यमान हैं।

एकीकृत प्रभावशाली तत्वों के बावजूद भारत में पृथकतावाद पनपने के कारण– भारत में पृथकतावाद पनपने के लिये भाषा, रीति-रिवाज, धार्मिक मान्यतायें एवं सामाजिक मान्यताओं को उत्तरदायी माना जाता है, परन्तु इसका वास्तविक कारण यह है कि भारत में तेजी से आर्थिक विकास नहीं हुआ और जो आर्थिक एवं सामाजिक विकास हुआ भी, वह विभिन्न क्षेत्रों में भेदभावपूर्ण और असन्तुलित था। इस तीव्र गति से विकास के लिये और असन्तुलित विकास के न होने के लिये यद्यपि प्राकृतिक कारण भी उत्तरदायी थे। परन्तु व्यवहार में मानवीय कमजोरी के कारण सभी सत्तारूढ़ व्यक्तियों ने विकास की गंगा या विकास की धारा को उसी प्रकार अपने क्षेत्र में मोड़ने की चालाकी की, जिस प्रकार एक चालाक किसान किसी नहर का पानी अवैध तरीके से नहर व नाली बनाकर अपने खेतों में सिंचाई कर अन्य लोगों को नुकसान पहुँचा देता है। इससे भारत में लगातार क्रमशः छोटे-छोटे क्षेत्रों को बढ़ावा देने वाले उप-राष्ट्रवाद का विकास हुआ। राजनीति में अपने मतदाताओं को खुश करने के लिये ऐसी क्षेत्रीय समस्याओं और आन्दोलन के उदाहरणों से भी भारतीय राजनीति भरी पड़ी है।

क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम– इस विकसित क्षेत्रवाद के निम्न राजनीतिक परिणाम भारतीय जनता को झेलने पड़ रहे हैं- (1) राजनीतिक भ्रष्टाचार (2) निर्वाचकों में स्थानीय प्रभाव (3) सस्ती लोकप्रियता पर आधारित संकुचित राजनीतिक प्रवृत्ति का विकास (4) राजनीतिक खींचतान।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक– क्षेत्रीयतावाद भारत की राष्ट्रीयता के विकास और विशेष कर राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। भारत में क्षेत्रीयता के कारण यहां के रहने वाले पंजाबी हैं, सिन्धी हैं, बंगाली हैं, असमी हैं, तमिल हैं, कर्नाटकी हैं। यहां तक कि छत्तीसगढ़ी हैं, मालवी हैं, बृजवासी हैं, परन्तु वे भारतीय नहीं हैं। जब सम्पूर्ण भारतीय हित की बात आती है, तो वे समस्त भारतीय हित पर अपने क्षेत्रीय हित का परित्याग करने के लिये मुश्किल से ही तैयार होते हैं।

इसलिये भारत राष्ट्र के रूप में निरन्तर शक्तिहीन होता जा रहा है। विदेशी हमारी इस कमजोरी का लाभ उठाकर भारत के समग्र हितों की अवहेलना करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हम जब अपनी-अपनी क्षेत्रीय पहचान के लिये इतने लालायित होते हैं तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि भारत एक राष्ट्र हो ही नहीं या भविष्य में रह ही न जाये। इससे भारत के विभाजन के षड्यन्त्रों के सफल हो जाने की सम्भावना है।

क्षेत्रवाद की समस्या का हल– क्षेत्रवाद की समस्या का हल करने के लिये हमें उन कारणों को समाप्त करना होगा जिनके कारण इस क्षेत्रवाद की समस्या ने विकराल होकर गंभीर रूप धारण कर भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है। जैसा कि इसके कारणों के विश्लेषण में हमने यह अध्ययन किया, कि इसके विकास का मुख्य कारण असन्तुलित एवं धीमी गति का विकास है। मनुष्य की स्वभावगत कमजोरी है कि वह पहले स्वयं का सुख चाहता है उसके बाद परिवार का। फिर उसके सुख चाहने का क्षेत्र धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते मोहल्ला, ग्राम,

जनपद क्षेत्र होता हुआ अन्त में देश पर पहुँच पाता है। इस समस्या का इलाज हमें जहर को जहर से मारने के होम्योपैथिक सिद्धान्त के अनुसार करना होगा। इस सम्बन्ध में डॉ. एन. के. श्रीवास्तव ने लिखा है कि, 'हम सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीयकरण करते हुये छोटे-छोटे राज्य बनायें और उनसे पंचायती राज्य तथा क्षेत्रीय संस्थाओं को शक्तिशाली और आत्म-निर्भर बनायें तथा विकास की गंगा जो अभी गंगोत्री के रूप में दिल्ली से चलती है उसे नीचे से ऊपर की ओर चलायें। विकास (अपने) का दायित्व प्रत्येक मोहल्ले और ग्राम का है और उनके लिये साधन भी वहीं जुटाये जायें। अभी जो वित्तीय केन्द्रीयकरण है, वह भी विकेन्द्रीयकरण में बदलना चाहिये। केन्द्र का या ऊपरी इकाई का दायित्व केवल इतना ही है कि वह छोटी-छोटी इकाईयों के भ्रष्टाचार पर नजर रखे और भ्रष्टाचार को दूर करने का प्रयास करे।' जब हम जिला सरकार और पंचायती राज की बात को महत्व देते हैं तो छोटे-छोटे राज्यों में भला क्या नुकसान है? इससे शासन और आम व्यक्ति के बीच की दूरी कम होगी। केन्द्र की भूमिका मात्र रक्षा, मुद्रा तथा विनिमय और व्यापार तक ही सीमित होनी चाहिये। जबकि व्यवहार में आज वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण कर केन्द्रीयकरण की मात्रा बढ़ी है और क्षेत्रीय विकास में पक्षपात तथा असन्तुलन उत्पन्न हुआ है।

प्रश्न–2. स्वतंत्रता के बाद भारत में प्रजातंत्र को क्षेत्रवाद ने कितना और किस प्रकार प्रभावित किया है? विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत की राजनीति में क्षेत्रवाद की क्या समस्या है? इसने भारत के राष्ट्रीय एकीकरण को किस प्रकार प्रभावित किया?

अथवा

भारतीय राजनीति में प्रदेशवाद या क्षेत्रवाद पर एक संक्षिप्त लेख लिखिये।

उत्तर– क्षेत्रवाद भारतीय राजनीति की मुख्य और ज्वलन्त समस्या है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या है। विद्वान **नार्मन डी. पामर** का तो मत है कि 'भारत की अधिकांश राजनीति क्षेत्रीयतावाद और भाषा के चारों ओर घूमती है। वास्तव में क्षेत्रीयतावाद और भाषा विवाद एक-दूसरे के पूरक हैं।' अब प्रश्न यह है कि क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य क्या है? क्षेत्रीयतावाद या क्षेत्रवाद से यहां हमारा तात्पर्य एक-प्रदेश में या प्रदेश के किसी भाग में एक छोटे से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक आदि कारणों से अपने पृथक (अलग) व्यक्तित्व के लिये जागरूक है। भारतीय समाज विविधतायुक्त अर्थात् अनेकता में एकता के लिये प्रयासरत समाज या राज्य या राष्ट्र है। ऐसे समाज में क्षेत्रीयता की राजनीति चकित करने वाली नहीं है। भारत के निवासी अपने को भारतीय न कहकर मराठी, बंगाली, पंजाबी, राजस्थानी, मद्रासी तथा बिहारी कहलाना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिये साम्यवादी और वामपंथी तो भारत को बहुराष्ट्रीय राज्य मानते हैं। परन्तु क्षेत्रीयता का अर्थ पृथकतावाद नहीं है, यह तो सौदेबाजी का एक हथियार है जिसे अपनाकर प्रत्येक क्षेत्र राज्य से अपने लिये अधिक से अधिक सुविधायें लेना चाहता है। यह पृथकतावाद की अपेक्षा दवाब का एक साधन अधिक है।

क्षेत्रीयतावाद के विभिन्न पक्ष– क्षेत्रीयतावाद के अनेक पक्ष हैं, जैसे– सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, भाषायी, धार्मिक। ये विभिन्न–विभिन्न कारणों से पृथकता का दावा करते हैं। यह पृथक संस्कृति की भी दुहाई देते हैं।

क्षेत्रवाद के पनपने के कारण– क्षेत्रवाद के पनपने का एक मुख्य कारण तो यह है कि भारत में आर्थिक विकास तेज गति से नहीं हो पाया और जो हुआ भी है वह असन्तुलित है। कुछ प्रदेशों का अधिक विकास हो गया है, कुछ का कम। किन्हीं क्षेत्रों में कम विकास हो पाने के लिये लोग प्राकृतिक कारणों को नहीं अपितु सत्तारूढ़ व्यक्तियों को दोषी मानते हैं। यह एक मानवीय कमजोरी भी है कि जो सत्तारूढ़ होते हैं वे अपने–अपने क्षेत्रों के विकास को स्वाभाविक रूप से प्राथमिकता देते भी हैं। वोट बैंक के लिये भी ऐसा किया जाता है। इसलिये इस क्षेत्रीय असन्तुलन के लिये राजनीति को दोषी माना जाता है। यद्यपि यह धारणा अतिश्योक्तिपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक तथा अन्य तत्व भी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कभी–कभी राजनीतिक दल किसी क्षेत्र में अपनी स्थिति मजबूत बनाकर उसे अपनी पाकेट बनाने के लिये क्षेत्रीयतावाद का सहारा लेते हैं। चुनावों के अवसर पर भी क्षेत्रीयतावाद को उभारा जाता है।

क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम

(1) चुनावों में क्षेत्रीयता का सहारा लेना दुष्प्रवृत्ति है।

(2) क्षेत्रवाद के कारण कभी–कभी हिंसा भी भड़क उठती है। क्षेत्र व भाषा के उग्र आन्दोलन इसके उदाहरण है।

(3) कुछ दल इसे अपनी सस्ती लोकप्रियता का साधन बनाकर राजनीति को प्रदूषित करते हैं।

(4) मंत्रीमण्डल के निर्माण में भी क्षेत्रवाद का सहारा लिया जाता है, प्रधानमंत्री व्यक्ति चुनने में स्वतंत्र है परन्तु क्षेत्र चुनने में नहीं।

(5) क्षेत्रवाद के कारण राजनीति में खींचतान चलती है और अनुशासन नाम मात्र का होता है। उदाहरण के लिये पूर्वोत्तर रेलवे जोन के विभाजन को लेकर बिहार एवं बंगाल का ध्रुवीकरण।

(6) इसके पनप जाने के बाद व्यापक राष्ट्रीय या प्रादेशिक हितों की अवहेलना होने लगती है।

(7) यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक है।

राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की भूमिका– राजनीति और क्षेत्रीयता में अन्तःक्रिया देखी जाती है। इसका अध्ययन हमें निम्न निष्कर्षों पर पहुँचाता है–

(1) क्षेत्रीयतावाद के आधार पर राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करते हैं। राज्यों में भी क्षेत्र पूरी राज्य सरकार पर दबाव डालते हैं। यह सौदेबाजी आर्थिक विकास के लिये नहीं किसी भी मामले में निर्णय को लेकर हो सकती है, उदाहरण– पूर्वोत्तर रेल जोन के मामले में बंगाल का दबाव। इसी प्रकार के दबाव के कारण हरियाणा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उत्तरांचल राज्य बने हैं। यह राज्यों के विभाजन का

सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ है। पूर्वांचल, जाटलेण्ड, महाकौशल, बुन्देलखण्ड और मध्यभारत राज्य भी बनकर रहेंगे।

(2) राजनीतिक दल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण तुष्टिकरण की नीति अपनाकर क्षेत्रवाद को बढ़ावा देते हैं। मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ का विभाजन स्वीकार करके मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री ने छत्तीसगढ़ के प्रभावशाली नेतृत्व की चुनौती से निबटने के लिये मध्य प्रदेश की जनता को परेशानियों में डाल दिया है।

(3) क्षेत्रवाद के कारण ही मंत्रीमण्डल के सदस्य अपने विभाग में अपने क्षेत्र का ही अधिक ध्यान रखते हैं व अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा करते हैं। जैसे सुखाड़िया ने उदयपुर को चमका दिया। विभाजित प्रदेश में वे अपनी मजबूत स्थिति का सपना देखते हैं।

(4) चुनावों के अवसर पर झूठे वायदे करना और संकुचित अन्तर्राज्यीय भावनाओं को उभारना आम बात है। इस समय क्षेत्रीयता को उभारकर वोट बटोरने का फैशन चल पड़ा है।

(5) क्षेत्रीयता के आधार पर राजनीतिक दलों द्वारा प्रत्याशी चुने जाते हैं।

(6) क्षेत्रीय दलों का विकास और सफलता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है।

(7) क्षेत्रीयतावाद उग्रवाद और हिंसा को भड़काता है।

(8) मंत्रीमण्डल के निर्माण से इसे बल मिलता है। प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री को हर क्षेत्र का ध्यान रखना पड़ता है।

क्षेत्रीयतावाद को जन्म देने वाले तत्व– राजनीति में क्षेत्रीयतावाद को निम्न तत्वों ने बढ़ावा दिया है–

(1) **भौगोलिक और सांस्कृतिक–** यह क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा देने वाला सबसे शक्तिशाली तत्व है। राज्य पुर्नगठन में भूगोल ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, क्योंकि इसमें पुरानी भौगोलिक सीमाओं को भुलाया नहीं जा सका। उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ राज्यों का निर्माण भौगोलिक कारणों से ही हुआ।

(2) **ऐतिहासिक तत्व–** क्षेत्रीयतावाद को पनपने में ऐतिहासिक कारण भी रहे हैं। इसकी भूमिका नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार की रही है। सकारात्मक योगदान में शिवसेना का नाम लिया जा सकता है, जो शिवाजी के गौरवपूर्ण इतिहास को लेकर महाराष्ट्र में क्षेत्रीय राष्ट्रीयता को हवा देकर शक्तिशाली बनी है। नकारात्मक में हम द्रविड़ मुनेत्र कणगम को देख सकते हैं, जो उत्तरी हिन्दी भाषी आम राज्यों के प्रति घृणा पर आधारित क्षेत्रीय राजनीति कर रही है।

(3) **जातिवाद–** जाति ने भी क्षेत्रीयतावाद के बढ़ाने में योगदान दिया है, जिन क्षेत्रों में एक ही जाति की प्रधानता रही है वहां उग्र क्षेत्रीयतावाद पनपा। हरियाणा और अब जाटलेण्ड की मांग इसका मुख्य उदाहरण है। महाराष्ट्र भी इस तत्व से प्रभावित है।

(4) धार्मिक उग्रता भी प्रादेशिकतावाद को उग्र जामा पहना देती है। पंजाब में अकालियों ने उग्रवाद को बढ़ावा देकर राष्ट्र को काफी क्षति पहुँचाई।

(5) भाषा ने भी भारत में क्षेत्रवाद को बढ़ावा दिया। क्षेत्रवाद की अधिकांश समस्यायें भाषा से सम्बन्धित होती हैं।

(6) **आर्थिक तत्व**– क्षेत्रीयतावाद के पनपने में एक मुख्य कारण आर्थिक तत्व भी है। इसका मुख्य कारण असन्तुलित और विकास की गति धीमी होना है। यदि विकास की रफ्तार तेज हो तो विभिन्न क्षेत्रों को यह सब्र बना रहता है कि चलो आज नहीं तो कल हमारा भी नम्बर आयेगा। मध्यप्रदेश के वर्तमान और भावी 6 भागों में विभाजन के लिये आर्थिक तत्व ही प्रमुख कारक है। सत्तारूढ़ दल इस दृष्टि से पक्षपात करता है।

(7) **राजनीतिक कारण**– राजनीतिक कारणों में सबसे बड़ा कारण राजनीतिक महत्वाकांक्षा है। राजनीतिक महत्वाकांक्षा के कारण ही मध्यप्रदेश का वर्तमान दुःखदायी विभाजन हुआ और भविष्य में और भी होगा क्योंकि अन्य क्षेत्रों के नेता भी वर्तमान नेतृत्व को चुनौती दे रहे हैं।

क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने क्षेत्रीयतावाद को बढ़ाया है। आज की राजनीति मुख्य रूप से क्षेत्रीय दलों की राजनीति है। केन्द्र की राजग सरकार क्षेत्रीय दलों के बूते ही सत्तारूढ़ है।

क्षेत्रीयतावाद की समस्या का समाधान– वास्तव में क्षेत्रीयतावाद राजनीति की आधुनिक कार्यशैली है। इस प्रकार के क्षेत्रीयतावादी आन्दोलन प्रारम्भ में आधुनिकीकरण की दिशा में ही होते हैं। ये तब समस्या बन जाते हैं, जब ये उग्र और हिंसक बन जाते हैं। हमने प्रारम्भ में ही भाषावार प्रान्तों के निर्माण की मांग स्वीकार कर इस उग्र राष्ट्रीयवाद के भस्मासुर को प्रोत्साहित किया है। आज भी राजग की अटल बिहारी सरकार अपने स्वार्थ के लिये क्षेत्रीय दलों को बढ़ावा दे रही है। अब हम अपने पाले हुये भस्मासुरों से भला कैसे बच सकते हैं? उग्र पृथकतावादी आन्दोलन भी क्षेत्रीयतावाद से काफी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। इससे उग्र राष्ट्रवाद पनपकर कभी राष्ट्र के टुकड़े हो जाने का खतरा भी उत्पन्न हो सकता है।

अपने एक लेख में **डॉ. एन. के. श्रीवास्तव** ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया कि जब हम विकेन्द्रीयकरण की बात को और उसके महत्व को स्वीकार करते हैं तो छोटे–छोटे राज्य बनाने में हर्ज क्या है? वास्तव में छोटे–छोटे राज्यों के निर्माण से अधिक उत्तरदायी शासन की स्थापना होगी। जनता और प्रशासन में निकट सम्बन्ध स्थापित होंगे। प्रशासन में कार्यकुशलता आयेगी। केन्द्र छोटे–छोटे राज्यों में होने पर शक्तिशाली होगा। आर्थिक विकास भी तीव्र गति से होगा। भला जब हम पंचायती राज्य और जिला सरकार की तारीफ करते हैं तो छोटे–छोटे राज्य क्या बुरे हैं? राज्य पुनर्गठन आयोग ने भी इस सम्बन्ध में पहले ही सुझाव दिये थे। आज देश में जिस स्तर के नेता उपलब्ध हैं, उस दृष्टि से भी छोटे–छोटे राज्य ही अधिक उपयुक्त हैं। क्योंकि देश में अखिल भारतीय या अखिल प्रादेशिक नेताओं की कमीही नहीं बल्कि सुयोग्य नेतृत्व क्षमता का अभाव है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रादेशिकतावाद या क्षेत्रवाद का इलाज ये छोटे–छोटे राज्य हैं। यदि सुयोग्य, प्रतिभाशाली तथा ईमानदार प्रशासक मिल जायें, तो बड़े राज्यों में शासन और जनता का सम्पर्क हो सकता है। कभी–कभी छोटे–छोटे राज्यों में भ्रष्टाचार

अधिक होता है। विकास की दृष्टि से भी राज्यों को छोटे–छोटे भागों में बाँटना उचित नहीं है, क्योंकि विकास स्थानीय परिस्थितियों और साधनों के दोहन से ही होता है। यदि सुयोग्य शासक हों और प्रत्येक क्षेत्र के साधनों का उपयोग कर राज्यों में संतुलित सरकार बना सकें तो सम्पूर्ण देश का विकास हो सकता है।

प्रश्न–3. क्षेत्रवाद या क्षेत्रीय पहचान क्या है? भारत और राज्य की राजनीति में क्षेत्रीय पहचान (क्षेत्रवाद) के कारकों एवं इसके योगदान का वर्णन कीजिए।

अथवा

भारत तथा राज्य की राजनीति में क्षेत्रीय पहचान (क्षेत्रवाद) की भूमिका का विवेचन कीजिए।

उत्तर– **क्षेत्रवाद**– क्षेत्रवाद एक अवधारणा है जो उस मजबूत लगाव, वफादारी और पहचान को संदर्भित करती है जो व्यक्ति या समुदाय किसी बड़े देश या राजनीतिक इकाई के भीतर एक विशिष्ट क्षेत्र या भौगोलिक क्षेत्र से जुड़ते हैं। क्षेत्रवाद सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक पहलुओं सहित विभिन्न रूपों में प्रकट हो सकता है।

भारत और राज्य की राजनीति में क्षेत्रीय पहचान (क्षेत्रवाद)

भारत की राज्य की राजनीति के सन्दर्भ में क्षेत्रीय पहचान, जिसे प्रायः क्षेत्रवाद कहा जाता है, का आशय लगाव, वफादारी और पहचान की मजबूत भावना से है जो व्यक्ति और समुदाय देश के भीतर किसी विशेष क्षेत्र या राज्य से जुड़ते हैं। भारत में क्षेत्रवाद एक राजनीतिक और सांस्कृतिक घटना है जहाँ लोग स्वयं को अखिल भारतीय पहचान के स्थान पर मुख्य रूप से अपने राज्य या क्षेत्रीय सम्बद्धता के आधार पर पहचानते हैं। भारत की राज्य की राजनीति में क्षेत्रीय पहचान (क्षेत्रवाद) के प्रमुख पहलू निम्नवत् हैं–

(1) **ऐतिहासिक कारक**– 1956 में भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन सहित ऐतिहासिक घटनाओं ने मजबूत क्षेत्रीय पहचान के निर्माण में योगदान दिया है। भाषायी राज्यों के निर्माण का उद्देश्य भाषायी और सांस्कृतिक असमानताओं को दूर करना और श्रेष्ठतम शासन सुनिश्चित करना था।

(2) **भाषायी और सांस्कृतिक विविधता**– भारत की भाषायी और सांस्कृतिक विविधता क्षेत्रीय पहचान के मुख्य चालकों में से एक है। प्रायः विभिन्न राज्यों की अपनी विशिष्ट भाषाएँ, परम्पराएँ और सांस्कृतिक प्रथाएँ होती हैं। इन क्षेत्रों के लोग अपनी भाषायी और सांस्कृतिक विरासत को मजबूती से पहचानते हैं।

(3) **क्षेत्रीय राजनीतिक दल**– क्षेत्रवाद राजनीतिक दलों के उदय में परिलक्षित होता है जो मुख्य रूप से राज्य–स्तरीय राजनीति तथा शासन पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। ये पार्टियाँ क्षेत्रीय हितों की हिमायती हैं और प्रायः राज्य की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(4) **राज्य स्वायत्तता**– क्षेत्रीय पहचान प्रायः राज्य को अधिक स्वायत्तता देने की माँगों से जुड़ी होती है। भारत में कई राज्यों ने क्षेत्र–विशिष्ट मुद्दों को सम्बोधित करने और स्थानीय विकास को बढ़ावा देने हेतु अपने संसाधनों, वित्त और शासन पर अधिक नियंत्रण की माँग की है।

(5) **आर्थिक विकास**– राज्यों के बीच आर्थिक विकास में असमानताओं ने भी क्षेत्रीय पहचान को बढ़ावा दिया है। अधिक मजबूत अर्थव्यवस्था वाले राज्य प्रायः अपने आर्थिक हितों की रक्षा करने एवं उन्हें बढ़ावा देना चाहते हैं।

(6) **सांस्कृतिक और कलात्मक अभिव्यक्तियाँ**– क्षेत्रीय पहचान साहित्य, संगीत, नृत्य और कला सहित सांस्कृतिक और कलात्मक रूपों के माध्यम से व्यक्त की जाती है। प्रत्येक राज्य के अपने सांस्कृतिक त्यौहार, परम्पराएँ और प्रतीक हैं जो क्षेत्रीय गौरव की भावना की वृद्धि में योगदान करते हैं।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता**– अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता, खासतौर से राज्य की सीमाओं पर, क्षेत्रीय पहचान के दावे को जन्म दे सकती है। भूमि विवाद, संसाधनों तक पहुँच और सीमा तनाव से सम्बन्धित मुद्दे क्षेत्रवाद में योगदान कर सकते हैं।

(8) **संसाधन वितरण**– जल जैसे संसाधनों के वितरण पर विवाद क्षेत्रीय पहचान और संघर्ष को बढ़ा सकता है। उदाहरणार्थ, नदी बेसिन वाले राज्य जल संसाधनों पर अपने अधिकारों का दावा कर सकते हैं।

(9) **राजनीतिक गठबंधन**– प्रायः क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्रीय हितों पर जोर देने और केन्द्रीय राजनीति में अधिक प्रभाव हासिल करने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन बनाते हैं। ये गठबंधन देश के राजनीतिक परिदृश्य को आकार दे सकते हैं।

(10) **क्षेत्रीय आन्दोलन**– कुछ क्षेत्रों में राज्य या अधिक क्षेत्रीय स्वायत्तता प्राप्त करने हेतु राजनीतिक आन्दोलन और आन्दोलन होते देखे गए हैं। आंध्रप्रदेश में तेलंगाना आन्दोलन तथा पश्चिम बंगाल में गोरखालैंड आन्दोलन जैसे आन्दोलन अलग राज्य की क्षेत्रीय माँगों के उदाहरण हैं।

निष्कर्ष– भारत में क्षेत्रीय पहचान और क्षेत्रवाद जटिल और बहुआयामी हैं। वे भारत की विविधता की समृद्धि में योगदान तो करते हैं, लेकिन साथ ही वे संसाधन वितरण, शासन और अन्तर-क्षेत्रीय सम्बन्धों से सम्बन्धित चुनौतियाँ भी पेश करते हैं। भारतीय नीति निर्माताओं और नेताओं के लिए राष्ट्रीय एकता के साथ क्षेत्रीय आकांक्षाओं को सन्तुलित करना भारी चिन्ता का कारण है।

प्रश्न–4. भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की भूमिका पर प्रकाश डालिये।

अथवा

भारत में क्षेत्रीयतावाद के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की समस्या पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अथवा

भारतीय राजनीति को क्षेत्रवाद किस प्रकार प्रभावित करता है? संक्षेप में विवेचना कीजिये।

अथवा

क्षेत्रवाद पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की भूमिका की विवेचना कीजिये।

उत्तर– भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद– भारत, विभाजन के बाद भी एक विशाल देश है। यहाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के साथ-साथ विभिन्न भाषा-भाषी भारत के विभिन्न प्रान्त हैं। इन पृथक-पृथक क्षेत्रों की राजनीतिक पहचान यद्यपि प्राचीन काल से भारत के रूप में की जाती रही है। स्वतन्त्रता के पूर्व भी ब्रिटिश शासन-काल में भारत एक इकाई था, परन्तु आज इसकी विभिन्न इकाईयाँ भी पृथक क्षेत्रवाद की शिकार हैं। पृथकतावाद के बीज यद्यपि ब्रिटिश-काल में बोये गये थे, परन्तु ब्रिटिश शासन-काल में ही प्रशासकीय और शासकीय मजबूरी के कारण राष्ट्रीय एकीकरण भारत के अंग्रेज शासकों को करना पड़ा था। भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कारणों से भारत में एकीकरण के तत्व विद्यमान हैं।

एकीकृत प्रभावशाली तत्वों के बावजूद भारत में पृथकतावाद पनपने के कारण– भारत में पृथकतावाद पनपने के लिये भाषा, रीति-रिवाज, धार्मिक मान्यतायें एवं सामाजिक मान्यताओं को उत्तरदायी माना जाता है, परन्तु इसका वास्तविक कारण यह है कि भारत में तेजी से आर्थिक विकास नहीं हुआ और जो आर्थिक एवं सामाजिक विकास हुआ भी, वह विभिन्न क्षेत्रों में भेदभावपूर्ण और असन्तुलित था। इस तीव्र गति से विकास के लिये और असन्तुलित विकास के न होने के लिये यद्यपि प्राकृतिक कारण भी उत्तरदायी थे। परन्तु व्यवहार में मानवीय कमजोरी के कारण सभी सत्तारूढ़ व्यक्तियों ने विकास की गंगा या विकास की धारा को उसी प्रकार अपने क्षेत्र में मोड़ने की चालाकी की, जिस प्रकार एक चालाक किसान किसी नहर का पानी अवैध तरीके से नहर व नाली बनाकर अपने खेतों में सिंचाई कर अन्य लोगों को नुकसान पहुँचा देता है। इससे भारत में लगातार क्रमशः छोटे-छोटे क्षेत्रों को बढ़ावा देने वाले उप-राष्ट्रवाद का विकास हुआ। राजनीति में अपने मतदाताओं को खुश करने के लिये ऐसी क्षेत्रीय समस्याओं और आन्दोलन के उदाहरणों से भी भारतीय राजनीति भरी पड़ी है।

क्षेत्रवाद के दुष्परिणाम– इस विकसित क्षेत्रवाद के निम्न राजनीतिक परिणाम भारतीय जनता को झेलने पड़ रहे हैं– (1) राजनीतिक भ्रष्टाचार (2) निर्वाचकों में स्थानीय प्रभाव (3) सस्ती लोकप्रियता पर आधारित संकुचित राजनीतिक प्रवृत्ति का विकास (4) राजनीतिक खींचतान।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक– क्षेत्रीयतावाद भारत की राष्ट्रीयता के विकास और विशेष कर राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। भारत में क्षेत्रीयता के कारण यहां के रहने वाले पंजाबी हैं, सिन्धी हैं, बंगाली हैं, असमी हैं, तमिल हैं, कर्नाटकी हैं। यहां तक कि छत्तीसगढ़ी हैं, मालवी हैं, बृजवासी हैं, परन्तु वे भारतीय नहीं हैं। जब सम्पूर्ण भारतीय हित की बात आती है, तो वे समस्त भारतीय हित पर अपने क्षेत्रीय हित का परित्याग करने के लिये मुश्किल से ही तैयार होते हैं।

इसलिये भारत राष्ट्र के रूप में निरन्तर शक्तिहीन होता जा रहा है। विदेशी हमारी इस कमजोरी का लाभ उठाकर भारत के समग्र हितों की अवहेलना करते हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हम जब अपनी-अपनी क्षेत्रीय पहचान के लिये इतने लालायित होते हैं तो कहीं

ऐसा तो नहीं है कि भारत एक राष्ट्र हो ही नहीं या भविष्य में रह ही न जाये। इससे भारत के विभाजन के षड्यन्त्रों के सफल हो जाने की सम्भावना है।

क्षेत्रवाद की समस्या का हल– क्षेत्रवाद की समस्या का हल करने के लिये हमें उन कारणों को समाप्त करना होगा जिनके कारण इस क्षेत्रवाद की समस्या ने विकराल होकर गंभीर रूप धारण कर भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है। जैसा कि इसके कारणों के विश्लेषण में हमने यह अध्ययन किया, कि इसके विकास का मुख्य कारण असन्तुलित एवं धीमी गति का विकास है। मनुष्य की स्वभावगत कमजोरी है कि वह पहले स्वयं का सुख चाहता है उसके बाद परिवार का। फिर उसके सुख चाहने का क्षेत्र धीरे–धीरे बढ़ते–बढ़ते मोहल्ला, ग्राम, जनपद–क्षेत्र होता हुआ अन्त में देश पर पहुँच पाता है। इस समस्या का इलाज हमें जहर को जहर से मारने के होम्योपैथिक सिद्धान्त के अनुसार करना होगा। इस सम्बन्ध में डॉ. एन. के. श्रीवास्तव ने लिखा है कि, 'हम सत्ता का अधिकाधिक विकेन्द्रीयकरण करते हुये छोटे–छोटे राज्य बनायें और उनसे पंचायती राज्य तथा क्षेत्रीय संस्थाओं को शक्तिशाली और आत्म–निर्भर बनायें तथा विकास की गंगा जो अभी गंगोत्री के रूप में दिल्ली से चलती है उसे नीचे से ऊपर की ओर चलायें। विकास (अपने) का दायित्व प्रत्येक मोहल्ले और ग्राम का है और उनके लिये साधन भी वहीं जुटाये जायें। अभी जो वित्तीय केन्द्रीयकरण है, वह भी विकेन्द्रीयकरण में बदलना चाहिये। केन्द्र का या ऊपरी इकाई का दायित्व केवल इतना ही है कि वह छोटी–छोटी इकाईयों के भ्रष्टाचार पर नजर रखे और भ्रष्टाचार को दूर करने का प्रयास करे।' जब हम जिला सरकार और पंचायती राज की बात को महत्व देते हैं तो छोटे–छोटे राज्यों में भला क्या नुकसान है? इससे शासन और आम व्यक्ति के बीच की दूरी कम होगी। केन्द्र की भूमिका मात्र रक्षा, मुद्रा तथा विनिमय और व्यापार तक ही सीमित होनी चाहिये। जबकि व्यवहार में आज वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण कर केन्द्रीयकरण की मात्रा बढ़ी है और क्षेत्रीय विकास में पक्षपात तथा असन्तुलन उत्पन्न हुआ है।

प्रश्न–5. भारत में राज्य की राजनीति की रुचियाँ और आकांक्षाओं पर एक लेख लिखिए।

उत्तर– भारत में राज्य की राजनीति की रुचियाँ और आकांक्षाएँ– भारत में राज्य की राजनीति एक जटिल और गतिशील क्षेत्र है जिसमें हितों और आकांक्षाओं की एक बड़ी श्रृंखला शामिल है। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि भारत के 28 राज्यों और 8 केन्द्रशासित प्रदेशों में विविध सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक परिदृश्य के कारण एक राज्य से दूसरे राज्य में विशिष्ट रूचियाँ और आकांक्षाएँ काफी अलग हो सकती हैं। यद्यपि राज्य की राजनीति में कुछ सामान्य हितों, रूचियों और आकांक्षाओं में निम्न भी शामिल हैं–

(1) **शासन और विकास**– राज्य की राजनीति की प्राथमिक आकांक्षाओं में से एक राज्य के भीतर सुशासन और विकास सुनिश्चित करना है। इसमें राज्य के निवासियों को शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, बुनियादी ढाँचे और रोजगार के अवसर जैसी बुनियादी सुविधाएँ प्रदान करना शामिल हैं।

(2) **सामाजिक कल्याण**– प्रायः राज्यों में सामाजिक कल्याण पर केन्द्रित कार्यक्रम और नीतियाँ होती हैं, जिनमें गरीबी उन्मूलन, वंचितों के लिए आवास और दलितों और आदिवासियों जैसे हाशिए पर रहने वाले समुदायों का सशक्तिकरण शामिल है।

(3) **आर्थिक विकास**– प्रायः राज्य अपनी सीमाओं के भीतर आर्थिक विकास और औद्योगीकरण को बढ़ावा देना चाहते हैं। उनका लक्ष्य नीतियों और पहलों के माध्यम से निवेश आकर्षित करना, नौकरियाँ पैदा करना और स्थानीय अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देना है।

(4) **कृषि और ग्रामीण विकास**– देश के अनेक राज्यों की अधिकतम आबादी कृषि में लगी हुई है। राज्य सरकारें प्रायः ग्रामीण समुदायों के उत्थान के लिए ग्रामीण विकास, सिंचाई परियोजनाओं और कृषि सुधारों पर ध्यान केन्द्रित करती हैं।

(5) **शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा**– गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच राज्य की राजनीति में एक प्रमुख आकांक्षा है। राज्यों का लक्ष्य अपने नागरिकों की भलाई और विकास सुनिश्चित करने हेतु स्कूलों और अस्पतालों की गुणवत्ता में सुधार करना है।

(6) **सांस्कृतिक संरक्षण**– अद्वितीय सांस्कृतिक और भाषायी पहचान वाले राज्य अपनी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित और बढ़ावा देने की आकांक्षा रखते हैं। इसमें क्षेत्रीय भाषाओं, कलाओं और परम्पराओं को बढ़ावा देना शामिल है।

(7) **बुनियादी ढाँचे का विकास**– सड़कों, पुलों और सार्वजनिक परिवहन प्रणालियों जैसे बुनियादी ढाँचे का निर्माण और रखरखाव एक आम आकांक्षा है। इससे आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है और राज्य के निवासियों के जीवन की गुणवत्ता में भी सुधार होता है।

(8) **कानून और व्यवस्था**– कानून और व्यवस्था सुनिश्चित करना और राज्य की जनता के लिए सुरक्षित वातावरण प्रदान करना राज्य सरकारों की एक अहम तथा मौलिक जिम्मेदारी है। कम अपराध दर और चुस्त दुरुस्त पुलिस व्यवस्था की आकांक्षा एक सामान्य लक्ष्य है।

(9) **पर्यावरण संरक्षण**– वर्तमान में दिनों–दिन पर्यावरणीय मुद्दे तेजी से महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में कुछ राज्यों का लक्ष्य प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा करना, प्रदूषण से निपटना और सतत विकास को बढ़ावा देना है।

(10) **सामाजिक एवं राजनीतिक समावेशन**– भारत में अनेक राज्यों में विविध प्रकार की आबादी है, और सभी समुदायों के लिए सामाजिक एवं राजनीतिक समावेश सुनिश्चित करना एक महत्वपूर्ण आकांक्षा है। इसमें सकारात्मक कार्रवाई नीतियाँ और अल्पसंख्यक समूहों के लिए प्रतिनिधित्व शामिल हैं।

(11) **राजनीतिक शक्ति एवं स्वायत्तता**– भारत के संघीय ढाँचे के भीतर राज्य भी राजनीतिक शक्ति एवं स्वायत्तता की आकांक्षा रखते हैं। कुछ राज्यों में क्षेत्रीय दल हैं जो शासन के विभिन्न पहलुओं पर राज्य–स्तरीय नियंत्रण की तीव्र मांग करते हैं।

(12) पर्यटन हेतु बेहतर कनेक्टिविटी– प्रायः राज्य व्यापार और पर्यटन को सुविधाजनक बनाने हेतु सड़क, रेल एवं हवाई नेटवर्क के माध्यम से बेहतर कनेक्टिविटी चाहते हैं।

यह भी महत्वपूर्ण है कि राज्य सरकारों की विशिष्ट प्राथमिकताएँ और उद्देश्य समय तथा परिस्थितियों के साथ बदल सकते हैं, जो क्षेत्र में प्रचलित राजनीतिक गतिशीलता, आर्थिक स्थितियों और सामाजिक मुद्दों से प्रभावित होते हैं। इसके अलावा, प्रत्येक राज्य की विशिष्ट विशेषताओं और चुनौतियों के आधार पर राज्य की राजनीति के हित और आकांक्षाएँ काफी भिन्न हो सकती हैं।

क्षेत्रीय पहचान या (क्षेत्रवाद) साझा संस्कृति, भाषा और विरासत की मजबूत जड़ें जमाती है जो एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र को परिभाषित करती है। यह एक समुदाय की सामूहिक चेतना और गौरव को दर्शाता है जो स्वयं को दूसरों से अलग पहचानता है। ऐसी पहचानों के भीतर क्षेत्रीय हितों और आकांक्षाओं का एक व्यापक दायरा है, जिसमें सांस्कृतिक संरक्षण, भाषायी प्रचार, आर्थिक विकास और राजनीतिक प्रतिनिधित्व शामिल हैं। ये आकांक्षाएँ प्रशासनिक और राजनीतिक रूप से अधिक स्वायत्तता के साथ-साथ क्षेत्र की अनूठी जरूरतों के अनुरूप उचित संसाधन आवंटन और बुनियादी ढाँचे के विकास की माँग को बढ़ा सकती हैं।

प्रश्न–6. वर्तमान भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व के रूप में जाति की भूमिका पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में जाति–प्रथा की भूमिका का परीक्षण कीजिये।

अथवा

'भारतीय राजनीति ने जाति को प्रभावित किया है और जाति ने भारतीय राजनीति को प्रभावित किया है।' स्पष्ट कीजिये।

अथवा

जाति का भारतीय राजनीति पर प्रभावों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– जाति भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता है। प्रारम्भ से ही भारत का समाज पहले वर्णों में बँटा रहा। उसके बाद इन चार वर्णों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों में से कर्म के अनुसार जातियों का निर्माण हुआ। बाद में इन जातियों का आधार कर्म के स्थान पर जन्म बन गया। तब से इस व्यवस्था में बुराई उत्पन्न हो गई। क्योंकि इसके बाद व्यक्ति कितना ही योग्य क्यों न हो, उसके कार्य निश्चित हो गये और समाज में उसकी स्थिति भी सुनिश्चित हो गयी। तीन वर्णों में बनी जातियाँ क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, समाज की सर्वे-सर्वा बन बैठीं। शूद्रों का शोषण (आर्थिक और सामाजिक दोनों का) होने लगा। यद्यपि भारत में हिन्दुओं के अलावा भी अन्य धर्मावलम्बी लोग भी रहते हैं, परन्तु उनमें भी जातिवाद को प्रोत्साहन मिला और ऊँच-नीच का भेदभाव उत्पन्न हो गया।

भारत में इस जातिवाद को राजनीतिक इतिहास के राजंतन्त्रकाल, कुलीन तन्त्र, सामन्तवादी काल तथा मुगल और ब्रिटिश साम्राज्यवादी काल के शासक भारतीय जनता पर

अपना शिकंजा बनाये रखने के लिये इस सामाजिक बुराई को इसलिये बढ़ावा देते रहे क्योंकि इससे उन्हें भारत में शोषक वर्ग का सहयोग और शोषण के लिये एक बहुत बड़ा समाज उपलब्ध होता रहा। ये शूद्र जातियाँ भारत में सस्ते मजदूर के रूप में उपलब्ध थीं। जमींदार-काल में तो इनसे कई प्रकार की बेगारें लेकर इन्हें शोषित किया जाता था।

स्वतन्त्रता के बाद भारत की जातिवाद की स्थिति– भारत 15 अगस्त, 1947 को 150 वर्ष की ब्रिटिश गुलामी से मुक्त हुआ। आजादी की लड़ाई और पुनर्जागरण काल में बहुत से नेता इस जातिवाद को एक बुराई के रूप में देखते थे और उसकी आलोचना करते थे। वे इस जातिवादी बुराई की भारत में समाप्ति तथा अस्पृश्यता को समाप्त करने का संकल्प व्यक्त करते थे। सभी यह बात स्वीकार करते हैं कि अति जातिवाद और जातिवादजन्य अस्पृश्यता भारत के लिये कलंक और अभिशाप है। परन्तु इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय आन्दोलन काल में दो प्रकार के विचार थे– (1) पहले भारत को विदेशी गुलामी से मुक्त करा लिया जाये, फिर उसकी सामाजिक बुराईयों को इस देश की चुनी हुई सरकार ही दूर करे। दूसरा विचार कुछ राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं का यह था, कि पहले समाज-सुधार कर लेने चाहिये।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर दूसरे मत से सहमत थे। उनका मत था कि यदि सत्ता का हस्तान्तरण अंग्रेजों द्वारा भारत की उच्च जातियों को कर दिया गया, जो कि तत्कालीन कॉंग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय थीं, तो ये उच्च जातियाँ स्वतन्त्रता के बाद निम्न दलित तथा शूद्र जातियों का शोषण जारी रखेंगी।

स्वतन्त्रता के बाद स्थिति– स्वतन्त्रता आन्दोलन-काल में तो भारत के सभी नेता ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बात करते थे, और जातिवाद की आलोचना करते थे, परन्तु स्वतन्त्रता के बाद जब भारत में लोकतन्त्र की स्थापना हुई तो भारत के तमाम राजनीतिक दलों ने जाति को एक बने-बनाये सामाजिक मंच के रूप में उपयोग करना शुरू कर दिया। निम्न और शूद्र जातियों को वे केवल अपना वोट बैंक तो बनाना चाहते थे, परन्तु उन्हें सत्ता में बराबर की भागीदारी देने से कतरा रहे थे। इधर डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इन जातियों में एक राजनीतिक चेतना उत्पन्न कर दी थी और वे सामाजिक अधिकारों की, तथा बराबरी पर आने के लिये संरक्षण (आरक्षण) की माँग कर रहीं थीं। इस माँग के सामने झुकना पड़ा और संविधान सभा में आरक्षण स्वीकार हुआ। यद्यपि यह शुरू में केवल 15 वर्ष के लिये था, परन्तु अब यह लगातार बढ़ता जा रहा है।

पिछड़ों को भी आरक्षण की माँग– संविधान सभा ने केवल दलितों, आदिवासी और अनुसूचित जातियों को आरक्षण दिया था। इनकी संख्या 20 प्रतिशत से अधिक है। परन्तु भारत में लगभग 50 प्रतिशत पिछड़ी हुई जातियाँ भी हैं।

जब जातिवाद को बढ़ावा मिला तो ये जातियाँ भी आरक्षण की मांग करने लगीं। इनके लिये मण्डल कमीशन की नियुक्ति हुई। उसने इन्हें भी आरक्षण देने की बात कही। प्रारम्भ में तो सवर्ण तथा उच्च जातियों ने इस मांग पर चुप्पी साधे रखी परन्तु जब गैर कॉंग्रेसवाद को कॉंग्रेस से उनके दलित वोट बैंक को छीनने में आंशिक सफलता ही मिली तो तत्कालीन प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने मण्डल कमीशन का सहारा लेकर पिछड़ों को अपना वोट

बैंक बनाने की राजनीति का पाँसा फेंका। इससे भारत में जातिवाद का खुलकर राजनीतिक दुरुपयोग शुरू हो गया। अब राजनीतिक दल जातिवाद का ऐन-केन-प्रकारेण चुनाव जीतने तथा सत्ता हथियाने के लिये खुलकर प्रयोग करने लगे हैं। इसके निम्नलिखित परिणाम हुये-

राजनीति का जातिकरण और जातियों का राजनीतिकरण- आज प्रत्येक दल वोट हथियाने हेतु जाति के आधार पर चुनाव में उम्मीदवार खड़े करता है। मन्त्रिमण्डल में जातियों को समुचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है। अतः राजनीति का गणित अब जाति पर आधारित हो गया है।

आज जातिवाद राजनीति को बुरी तरह प्रभावित और प्रदूषित कर रहा है। इससे योग्यता प्रभावित हुई है। राजनीतिक सिद्धान्त और कार्यक्रम का अब कोई मूल्य नहीं रह गया है। अब राजनीति में मतदाता को प्रभावित करने के लिये जातियों के नेताओं का सहारा लिया जाता है।

यह भारतीय राजनीति के लिये कोई अच्छा लक्षण नहीं है। इससे राजनीति और समाज में मूल्यहीनता उत्पन्न होकर मतदाता (वोटर) का अब अपना कोई मूल्य या महत्व नहीं रह गया है। राजनीति पर जाति हावी है। इसी कारण भारत का राज्य अब लोक-कल्याणकारी नहीं है, क्योंकि लोक या जनता की चिन्ता अब क्यों की जाये जबकि वोट जाति के आधार पर थोक में मिलना है। जुलाई, 2007 में जब राष्ट्रपति के चुनाव हुये तब जातिवाद के आधार पर क्रॉस वोटिंग हुई, तो आप सोच सकते हैं कि अन्य चुनावों में क्या होता होगा? इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है। चुनावों में जातिवाद खुलकर अपना प्रभाव दिखाता है। उत्तर प्रदेश में मायावती ने दलित और ब्राह्मण गठजोड़ कर स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर इस जातिवाद की राजनीति को और हवा दी है।

प्रश्न-7. जातिगत ध्रुवीकरण क्या है और यह भारत में राज्य की राजनीति में कैसे प्रकट होता है?

अथवा

जाति-आधारित राजनीतिक दल भारतीय राज्यों में जाति के ध्रुवीकरण में कैसे योगदान करते हैं?

उत्तर- ध्रुवीकरण- ध्रुवीकरण का अथवा किसी समूह, समाज अथवा राजनीतिक वातावरण के भीतर विभाजन, विरोधाभास या मतभेद को तीव्र करने की प्रक्रिया से है। इसमें आमतौर पर विरोधी दृष्टिकोणों, विचारधाराओं अथवा गुटों को मजबूत करना शामिल होता है, जिससे प्रायः इन विरोधी दलों के बीच शत्रुता, अविश्वास या संघर्ष बढ़ जाता है। ध्रुवीकरण समाज के विभिन्न पहलुओं में दिखाई दे सकता है, जिसमें राजनीति, संस्कृति और सामाजिक दृष्टिकोण शामिल हैं और यह उस समाज के भीतर बहस, निर्णय लेने और सहयोग की गतिशीलता को प्रभावित कर सकता है। संक्षेप में, ध्रुवीकरण विभिन्न समूहों या व्यक्तियों के बीच विरोधाभासी मान्यताओं, मूल्यों या रूचियों के बीच गहराते विभाजन और बढ़ते अलगाव को प्रदर्शित करता है।

भारत में राज्य की राजनीति में जातीय ध्रुवीकरण- भारत जैसे देश में जाति ध्रुवीकरण एक मजबूत जड़ें जमा चुकी सामाजिक राजनीतिक घटना है, जहाँ सदियों से जाति व्यवस्था ने पहचान और पदानुक्रम को आकार देने में केन्द्रीय भूमिका निभाई है। यह जाति के आधार पर समाज के भीतर विभाजन और तनाव को तीव्र करने को संदर्भित करता है। प्रायः यह ध्रुवीकरण तब होता है जब जाति की पहचान राजनीति, अर्थशास्त्र और सामाजिक सम्बन्धों सहित जीवन के विभिन्न पहलुओं में अधिक स्पष्ट एवं प्रभावशाली हो जाती है। जबकि जाति-आधारित आरक्षण और सकारात्मक कार्रवाई नीतियों का उद्देश्य ऐतिहासिक अन्याय को सुधारना है। वे विभिन्न जाति समूहों को एक-दूसरे के खिलाफ खड़ा करके ध्रुवीकरण में भी योगदान दे सकते हैं। जातिगत ध्रुवीकरण के राजनीतिक शोषण और पहचान की राजनीति से लेकर सामाजिक तनाव और असमानताओं तक महत्वपूर्ण परिणाम हो सकते हैं। इस जटिल मुद्दे को सम्बोधित करने के लिए एक बहुआयामी दृष्टिकोण/परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता है जो न्यायसंगत नीतियों, सामाजिक जागरूकता और विविध जाति समुदायों के बीच एकता और सामाजिक सामंजस्य को बढ़ावा देने के प्रयासों को जोड़ती है।

भारत में राज्य की राजनीति के क्षेत्र में जाति ध्रुवीकरण एक प्रमुख और जटिल घटना है। भारत की विविध और मजबूत जड़ें जमा चुकी जाति व्यवस्था को देखते हुए, जाति की पहचान प्रायः राज्य स्तर पर राजनीतिक गतिशीलता को आकार देने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारत में राज्य की राजनीति में जाति ध्रुवीकरण का वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है-

(1) **जाति-आधारित राजनीतिक दल-** भारत के अनेक राज्यों में जाति-आधारित राजनीतिक दलों का उदय हुआ है। इन पार्टियों की स्थापना प्रायः विशिष्ट जाति समूहों के हितों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने हेतु की जाती है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी (बसपा), जो मुख्य रूप से दलितों का प्रतिनिधित्व करती है और बिहार में राष्ट्रीय जनता दल (राजद) शामिल हैं, जिसके पास एक मजबूत यादव आधार है।

(2) **जाति-आधारित चुनावी गठबंधन-** जाति के आधार पर वोटों को मजबूत करने के लिए पार्टियाँ प्रायः जाति-आधारित पार्टियों के साथ चुनावी गठबंधन बनाती हैं। इन गठबंधनों का लक्ष्य जाति-आधारित समर्थन जुटाकर चुनावी सफलता को प्राप्त करना होता है।

(3) **वोट-बैंक की राजनीति-** वोट-बैंक की राजनीति से जातिगत ध्रुवीकरण का गहरा सम्बन्ध है। राजनीतिक दल प्रायः अपने वोट सुरक्षित करने के लिए जाति के प्रतिनिधित्व और लाभ के वायदे के साथ विशिष्ट जाति समूहों को लक्षित करते हैं। पार्टियाँ कुछ जातियों के बीच एक वफादार मतदाता आधार बनाने की रणनीति बनाती हैं।

(4) **जाति जनगणना-** जाति-आधारित जनगणना को लेकर चर्चाएँ जातिगत ध्रुवीकरण को बढ़ा सकती हैं। वर्तमान में हुए चुनाव इसका उदाहरण है। जनसंख्या जनगणना में जातियों की गणना की जाए अथवा नहीं, इस पर बहस प्रायः राजनीतिक विवाद पैदा करती है और जाति विभाजन को गहरा करती है।

(5) **आरक्षण एवं कोटा–** भारत में आरक्षण प्रणाली, जो ऐतिहासिक रूप से हाशिये पर पड़ी जातियों के लिए सकारात्मक कार्रवाई प्रदान करती है। ये कभी–कभी जातिगत ध्रुवीकरण को भी बढ़ावा दे सकती है। गैर–आरक्षित जाति समूह अपने को वंचित महसूस कर सकते है और वे आरक्षण के खिलाफ एकजुट हो सकते हैं।

(6) **क्षेत्रीय भिन्नताएँ–** जातिगत ध्रुवीकरण अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग होता है। जबकि कुछ राज्यों में जाति–आधारित राजनीति का एक लम्बा इतिहास है, अन्य राज्यों में जाति–आधारित विभाजन कम हो सकते हैं।

(7) **सामाजिक तनाव–** जिन राज्यों में जातिगत ध्रुवीकरण अधिक है, वहाँ जाति–आधारित संघर्ष और सामाजिक तनाव भड़क सकते हैं। ये तनाव विरोध, हिंसा और यहाँ तक कि दंगों का कारण बन सकते हैं।

(8) **जाति संगठनों की भूमिका–** जाति आधारित मुद्दों और उम्मीदवारों के लिए समर्थन जुटाने में जाति संघ और संगठन अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे प्रायः राज्य की राजनीति में दबाव समूह के रूप में कार्य करते हैं।

(9) **नेतृत्व के निर्धारक के रूप में जाति–** पार्टियों के भीतर राजनीतिक नेताओं का चयन जाति सम्बन्धी विचारों से प्रभावित हो सकता है। पार्टियाँ अपने सम्बन्धित मतदाता आधारों को आकर्षित करने हेतु विशिष्ट जातियों के उम्मीदवारों को चुन सकती हैं।

(10) **नीति का कार्यान्वयन–** जाति–आधारित विचार सरकारी नीतियों के कार्यान्वयन को प्रभावित कर सकते हैं, जिससे जाति के आधार पर संसाधनों और लाभों का आवंटन हो सकता है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की राजनीति में जातिगत ध्रुवीकरण एक जटिल मुद्दा है जिसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम होते हैं। यद्यपि यह ऐतिहासिक रूप से हाशिए पर रहने वाले समूहों को अपने अधिकारों का दावा करने और प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की अनुमति देता है। यह विभाजन को भी कायम रख सकता है और व्यापक विकास लक्ष्यों में बाधा उत्पन्न कर सकता है। ऐतिहासिक अन्यायों को दूर करने और सामाजिक एकता को बढ़ावा देने के बीच सन्तुलन बनाना भारतीय राज्य की राजनीति में निरन्तर एक बड़ी चुनौती है।

प्रश्न–8. सामुदायिक ध्रुवीकरण की अवधारणा क्या है? चुनावी गतिशीलता पर इसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

अथवा

वे प्रमुख कारक क्या हैं जो विविध धार्मिक समुदायों वाले क्षेत्रों में सामुदायिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा देते हैं?

उत्तर– सामुदायिक ध्रुवीकरण– सामुदायिक ध्रुवीकरण एक सामाजिक घटना है जो किसी समाज के अन्दर धार्मिक, जातीय, नस्लीय या सांस्कृतिक समूहों जैसे सामुदायिक पहचान के आधार पर बढ़ते विभाजन और तनाव की विशेषता है। इस ध्रुवीकरण के महत्वपूर्ण

सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव हो सकते हैं। यहाँ सामुदायिक ध्रुवीकरण की विस्तृत व्याख्या निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **धार्मिक और जातीय पहचान–** सामुदायिक ध्रुवीकरण प्रायः धार्मिक या जातीय पहचान के आसपास घूमता है। ऐसा तब होता है जब व्यक्ति या समूह तेजी से अपने धार्मिक या जातीय समुदाय के साथ अपनी पहचान बनाते हैं और व्यापक समाज के हितों पर अपने हितों को प्राथमिकता देते हैं।

(2) **राजनीतिक शोषण–** राजनेता और राजनीतिक दल कभी–कभी चुनावी लाभ के लिए साम्प्रदायिक पहचान का शोषण करते हैं। वे अपने वोट सुरक्षित करने हेतु किसी विशेष धार्मिक अथवा जातीय समुदाय के हितों को पूरा करने वाली नीतियों को बढ़ावा दे सकते हैं।

(3) **धार्मिक उग्रवाद–** सामुदायिक ध्रुवीकरण के सबसे महत्वपूर्ण चालकों में से एक धार्मिक उग्रवाद है। चरमपंथी विचारधाराएँ विशिष्ट धार्मिक समुदायों के भीतर व्यक्तियों को कट्टरपंथी बना सकती हैं, जिससे अन्य धार्मिक या जातीय समूहों के खिलाफ तनाव, संघर्ष और हिंसा की घटनाएँ हो सकती हैं।

(4) **साम्प्रदायिक हिंसा–** साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण साम्प्रदायिक हिंसा में बदल सकता है, जिसके कारण झगड़े और जानमाल की हानि हो सकती है। इन घटनाओं के प्रायः दुष्परिणाम होते हैं और साम्प्रदायिक विभाजन गहरा होता जाता है।

(5) **नफरत फैलाने वाले भाषण और प्रचार–** नफरत फैलाने वाले भाषण और उसके प्रचार–प्रसार, जिसे प्रायः सोशल मीडिया और संचार के अन्य माध्यमों से बढ़ावा मिलता है, सामुदायिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा दे सकता है। नकारात्मक रूढ़िवादिता और गलत सूचना समुदायों के बीच अविश्वास और दुश्मनी बनाये रख सकती है।

(6) **अलगाव–** साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण से उन समुदायों में भौतिक अलगाव हो सकता है, जो कि अलग–अलग पड़ोस में अथवा क्षेत्रों में रहते हैं। यह अलगाव विभाजन को मजबूत करता है और आर्थिक तथा सामाजिक अवसरों को सीमित कर सकता है।

(7) **सांस्कृतिक अलगाव–** सांस्कृतिक रूप से समुदाय अलग–अलग हो सकते हैं, जिसके सदस्य मुख्य रूप से अपने ही धार्मिक या जातीय समूह के भीतर, मेलजोल और विवाह करते हैं। यह अलगाव सांस्कृतिक आदान–प्रदान और समझ में बाधा उत्पन्न कर सकता है।

(8) **कानूनी तथा राजनीतिक भेदभाव–** ध्रुवीकरण भेदभावपूर्ण कानूनों या नीतियों के माध्यम से भी प्रकट हो सकता है जो एक समुदाय को दूसरे समुदाय से अधिक पसंद करते हैं, जिससे इन समुदायओं में अन्याय और असमानता की भावना पैदा होती है।

(9) **आर्थिक असमानताएँ–** साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप कुछ मामलों में, आर्थिक असमानताएँ हो सकती हैं, जिसमें एक समुदाय के पास संसाधनों, नौकरियों और अवसरों तक दूसरों की तुलना में अधिक पहुँच होती है।

(10) **पहचान–आधारित राजनीति–** राजनीतिक दल पहचान–आधारित राजनीति में संलग्न हो सकते हैं, जहाँ वे व्यापक राष्ट्रीय हितों पर एक विशेष धार्मिक या जातीय समुदाय

के हितों को प्राथमिकता देते हैं। इससे ध्रुवीकरण गहरा सकता है और राष्ट्रीय एकता में बाधा पैदा हो सकती है।

(11) **शैक्षणिक प्रभाग**– शैक्षणिक संस्थान साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित हो सकते हैं, जैसे कि विभिन्न समुदायों के लिए अलग-अलग स्कूल और पाठ्यक्रम होंगे। यह आधार समुदायों के बीच आपसी बातचीत और समझ को सीमित कर सकता है।

(12) **अन्तर्राष्ट्रीय कारक**– पड़ोसी देशों में संघर्ष सहित अन्तर्राष्ट्रीय भू-राजनीतिक कारक, किसी राष्ट्र के भीतर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को और बढ़ा सकते हैं।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामुदायिक ध्रुवीकरण एक जटिल तथा बहुआयामी घटना है और इसका प्रभाव लम्बे समय तक चलने वाला गहरा एवं विभाजनकारी हो सकता है। यह सामाजिक सद्भाव, आर्थिक विकास और राजनीतिक स्थिरता को कमजोर कर सकता है। सामुदायिक ध्रुवीकरण को सम्बोधित करने हेतु एक बहु-आयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, जिसमें सहिष्णुता, अन्तर-सामुदायिक संवाद, शिक्षा और नीतियों को बढ़ावा देना शामिल है जो सभी नागरिकों के लिए सामाजिक समावेशिता और समानता को बढ़ावा देते हैं, चाहे उनकी धार्मिक या जातीय पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

प्रश्न–9. भारतीय लोकतंत्र को प्रभावित करने वाले प्रमुख आर्थिक व सामाजिक तत्वों की विवेचना संक्षेप में कीजिये।

अथवा

भारतीय प्रजातंत्र को जातिवाद ने किस प्रकार प्रभावित किया है? विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

उत्तर– भारतीय समाज जाति-प्रधान समाज है। इसका अर्थ यह है कि जाति भारतीय समाज की मुख्य विशेषता है। सम्पूर्ण भारतीय समाज यहां तक कि हिन्दू ही नहीं मुस्लिम समाज भी जातियों में बँटा हुआ है। प्राचीन भारत में भारत में हिन्दुओं में चार वर्ण थे। ये वर्ण ही आगे चलकर कई जातियों में बँट गये हैं।

भारत में जाति और राजनीति दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। ये दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। राजनीति को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये शक्ति की आवश्यकता पड़ती है और शक्ति प्राप्त करने के लिये जोड़-तोड़ करनी पड़ती है। जोड़-तोड़ बैठाने के लिये संगठनों का सहारा लेना पड़ता है। जाति संरचना (जाति का ढाँचा) राजनीति को भी एक मुख्य संगठनात्मक समूह (वोट बैंक का एक बना बनाया ढाँचा) प्रदान करता है। इस प्रकार राजनीति को भारत में जाति का सहारा लेना ही पड़ता है। रजनी कोठारी का यह कहना सत्य है कि ' यदि जाति के प्रभाव को अस्वीकार किया जाता है और उसकी उपेक्षा की जाती है, तो राजनीतिक संगठन (भारत) में बाधा पड़ती है। प्रत्याशियों के चयन, चुनाव प्रचार, मतदान व्यवहार आदि में जाति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। लेकिन साक्षरता व शिक्षा द्वारा

राजनीति पर जाति का प्रभाव कुछ कम हुआ है, ऐसी मान्यता है परन्तु यह भी पूर्ण सत्य नहीं है। आज पढ़ा लिखा भी इस सम्बन्ध में रूढ़िवादी ही है।

निर्धारक तत्व– वास्तव में जाति भारतीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। अनेक राजनीति शास्त्रीयों ने राजनीति के अध्ययन में जाति को बहुत महत्व दिया है। इन विद्वानों में हम **मोरिस जोन्स और टिकर** का नाम गिना सकते हैं। **मोरिस जोन्स** का मत है कि भारत एक ग्राम-प्रधान देश है और यहां की ग्रामीण जनता केवल परम्परागत राजनीति की भाषा ही जानती है। यह परम्परागत (रूढ़िवादी) राजनीति जाति के चारों ओर घूमती है। विद्वान टिकर ने भी इसी से मिलते-जुलते विचार प्रस्तुत किये हैं। उनका मत यह है कि आधुनिक भारत में कोई भी राजनीतिक दल जाति की उपेक्षा नहीं कर सकता और आने वाले अनेक वर्षों तक भारत में राजनीति, जातीय राजनीति बनी रहेगी। मोरिस जोन्स और विद्वान टिकर के विचारों में कुछ अतिश्योक्ति हो सकती है लेकिन यह मानना पड़ेगा कि भारत में जाति और राजनीति एक दूसरे पर बहुत अधिक निर्भर हैं। ये दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

जाति और राजनीति के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिये हमें जाति और राजनीति की परस्पर अन्तःक्रिया को सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों पहलुओं से देखना पड़ेगा।

जाति एवं राजनीति के बीच अन्तःक्रिया का सैद्धान्तिक विवेचन– हम देखते हैं कि जाति और राजनीति के बीच अन्तःक्रियां होती ही है। इसका एक परिणाम यह होता है कि समाज के कम उन्नत वर्गों को धीरे-धीरे नये विचारों और नई बातों को अपनाने का अवसर मिलता है। जातीय संगठनों के उद्देश्य लौकिक या राजनीतिक दोनों हो सकते हैं, जैसे- जाति विशेष के क्लब, छात्रावास, सामुदायिक भवन। पूरे प्रान्त या भाषा क्षेत्र की जातियों के सम्मेलन बुलाये जाते हैं। इसी आधार पर सामाजिक संस्थायें बनाई जाती हैं। एक से वर्ण के लोग भी मिलकर संघ बना लेते हैं, उदाहरण- सजाक्स, अजाक्स। धीरे-धीरे ये जातीय संगठन अन्य कार्य भी करने लगते हैं, दूसरे क्षेत्रों में भी फैलने लगते हैं एवं दूसरी जातियों को भी अपने में समेट लेते हैं और राजनीति दलों से भी मिलकर काम करने लगते हैं। जहां जाति या कबीले की भावना को दबाने के बजाये उनका प्रचार कर राजनीतिक दिशा देने की कोशिश की जाती है, वहां राजनीति एकीकरण की संभावना बैठती है और जहां जाति या सम्प्रदाय के संगठन की अनुमति नहीं दी जाती, वहां यह भावना गलत दिशा में जाती है।

जाति और राजनीति के बीच अन्तःक्रिया का व्यवहारिक अध्ययन– इस सम्बन्ध में अनुभव पर आधारित अध्ययन मुख्य रूप से चुनावों के सम्बन्ध में है। इस दृष्टि से हम जाति की भूमिका को दो भागों में बाँट सकते हैं-

(1) **जाति का सूक्ष्म विश्लेषण**– इस अध्ययन में हम जाति और व्यक्ति के मध्य अन्तःक्रिया का अध्ययन करते हैं, परस्पर जातियों के मध्य नहीं। इस अध्ययन के बाद हम इस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्याशियों के चयन, चुनाव-प्रचार, प्रशासन तथा मतदान सभी को जाति प्रभावित करती है।

(2) व्यवहार में समाज में जाति एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, ऐसा हमें भारत में सभी दलों में दिखाई दे रहा है। उत्तरप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश में जातिवाद, उपरोक्त दृष्टियों से हावी है। अब मध्यप्रदेश में भी ठाकुरवाद प्रत्यक्ष देखा जाने लगा है। यद्यपि यह जातीयता का प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है और इसका प्रभाव नगण्य कभी-कभी इसलिये दिखता है कि इस तथ्य को अब सभी राजनीतिक दल पहचान गये हैं और व्यवहार में लाने लगे हैं। प्रायः यह जातिवाद राजनीति में सफल ही दिखाई देता है।

प्रशासन मे जातीयता का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। सरकार बनाते समय इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। विधायिकाओं में स्थान सुरक्षित कर इसे प्रोत्साहन दिया गया। सरकारी निर्णय भी जातिवाद से प्रभावित होता है। सरकारी कर्मचारी तथा अधिकारी भी जाति समूहों में विभक्त हो गये हैं। मतदान व्यवहार का मुख्य आधार जाति रहा है। मतदान में मतदाता जाति से सर्वाधिक प्रभावित रहता है। हरियाणा में एक नारा साफ सुनाई देता है जाट की बेटी जाट को और जाट का वोट जाट को।

कभी-कभी अन्य प्रभाव जाति के प्रभाव को नगण्य भी बना देते हैं। क्योंकि सभी इस तथ्य से अब तक परिचित हो गये हैं। कुछ लोगों का मत है कि शिक्षा ने जाति के प्रभाव को कम किया है परन्तु डॉ. एन. के. श्रीवास्तव इस मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि इनके मतानुसार भारत में नौकरी के दृष्टिकोण से दी जाने वाली मैकाले की शिक्षा निकम्मी है। यह व्यक्ति को शिक्षित कम और संकीर्ण अधिक बनाती है। यह ठीक है कि राजनीति में विभिन्न स्तरों पर जाति का प्रभाव भिन्न-भिन्न पड़ता है। सबसे अधिक पंचायतों में ओर सबसे कम संसद में।

(3) **जातिवाद का वृहद विश्लेषण–** इस अध्ययन में विभिन्न जातियों की आपस में अन्तःक्रिया एवं राजनीति पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। यह एक कटु सत्य है कि अत्यन्त प्राचीन काल से जातियों में, आपस में प्रतिस्पर्द्धा पाई जाती है। भारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय संघर्ष बहुत पुराना है। ब्राह्मण, बनियावाद, ब्राह्मण और कायस्थों के बीच परस्पर स्पर्द्धा राजनीति से लेकर प्रशासन के हर क्षेत्र में देखी जा सकती है। अब दलित समाज और सवर्ण समाज की प्रतिस्पर्द्धा में भी देखी जा सकती है।

व्यस्क मताधिकार से इस प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन मिला। इससे उन जातियों का महत्व स्थापित हुआ जो संख्या बल में अधिक हैं। राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा में इन जातियों ने बहुत लाभ उठाया है। जिन राज्यों में दो से अधिक जातियां अधिक अच्छी संख्या में हैं, वहां इनके मुकाबले दिलचस्प होते हैं। जैसे- राजस्थान में जाट और राजपूत, बिहार में भूमिहर और यादव, उत्तरप्रदेश में दलित बनाम सवर्ण राजनीति बहुत समय से सवर्णों ने पिछड़े हुये यादवों से मुकाबले के लिये दलित से हाथ मिला लिया है। भाजपा और बसपा गठबन्धन इसी का नतीजा हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक परिस्थितियों में जातियों ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कभी-कभी कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व दो परस्पर विरोधी गुटों में सामंजस्य बिठाने में सफल हो जाते हैं। उदाहरण- राजस्थान में मोहन लाल सुखाड़िया।

प्रश्न– 10. भारतीय राजनीति पर धर्म के प्रभावों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका का परीक्षण कीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्व के रूप में धर्म की भूमिका पर प्रकाश डालिये।

अथवा

भारत में सम्प्रदायवाद की समस्या पर एक लेख लिखिये।

उत्तर– भारतीय समाज एक विशिष्ट समाज है। धर्म इस समाज की आत्मा है। धर्म के बिना भारतीय समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। धर्म क्या है ? यह जानना आवश्यक है। इसके लिये हमें धर्म की व्यापक परिभाषा करनी होगी।

इस व्यापक परिभाषा के अनुसार धर्म कर्त्तव्य को कहते हैं। यह हमें आत्मा जो परमात्मा का ही एक रूप है, के अनुसार चलकर उसके कहे अनुसार कार्य करने और जीवन जीने की प्रेरणा देता है। परन्तु कालान्तर में भारत में धर्म का भी अपभ्रंश होकर उसमें भी कई पंथ एवं सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। भारत में कुछ विदेशी आक्रमणकारी और प्रवासी के रूप में आये विदेशियों के धार्मिक कृत्य भिन्न थे। इनके कारण हमारे धर्म में कट्टरता और पाखण्डवाद आ गया। दूसरे धर्म भी अपने धर्म की श्रेष्ठता और पृथकता सिद्ध करने के लिये पाखण्डवादी होते गये। आधुनिक सम्प्रदायवाद इसी पाखण्डवाद की देन है। इसने भारत के सभी धर्मों को कट्टर बनाकर दूषित कर दिया है। इसलिये विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में एक-दूसरे के प्रति बैर-वैमनस्य पैदा हो गया है। यही बैर और वैमनस्य राजनीति के लिये समस्या बन गया है। हमारे पुराने राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, सामन्तवादी तथा साम्राज्यवादी शासकों द्वारा इस धार्मिक वैमनस्य से लाभ उठाकर 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति अपनाकर बहुत दिनों तक इस देश पर शासन किया गया और भारत को स्वतन्त्रता आन्दोलन के संध्याकाल में विभाजन की त्रासदी झेलने पर विवश कर दिया।

स्वतन्त्रता के बाद सम्प्रदायवाद की स्थिति– ब्रिटिश शासन ने प्रारम्भ में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देकर 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति अपनाकर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य कायम रखा था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक कारणों से ब्रिटेन भारत से साम्राज्य को स्वतन्त्र कर जाने के लिये विवश हुआ तो उस समय उसकी तात्कालिक नीति थी 'तोड़ चलो और फोड़ चलो'।

भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल लार्ड माउन्टबेटन भारत को 12 भागों में बाँट कर जाने की योजना बनाकर रखे हुये थे। अतः चलते-चलते ब्रिटिश सरकार और साम्राज्यवादी शासकों ने भारत में ऐसे विष-बीज बो दिये जिनके कारण स्वतन्त्र भारत में भी सम्प्रदायवाद, राजनीति को बुरी तरह प्रभावित कर रहा है।

भारत आज कई सम्प्रदायों में भी विभाजित है। यहां पाकिस्तान की जनसंख्या से भी अधिक इस्लाम धर्मावलम्बी हैं जो अभी तक अपने आपको राष्ट्रभक्त नहीं बना सके। यहां इसाई धर्मावलम्बी भी हैं, जो भारत की गरीबी, जाति-प्रथा, पिछड़ापन, अस्पृश्यता आदि का लाभ उठाकर आज भी धर्म-परिवर्तन में लगे हुये हैं। धर्म के आधार पर वोट मिलते हैं,

राजनीति की दुकानें चल सकती हैं। इसीलिये भारत का संविधान धर्म-निरपेक्ष होते हुये भी भारत के राजनीतिक दल और सरकारें, धर्मों के प्रति तुष्टिकरण की नीति पर चल रही है।

ये विभिन्न सम्प्रदाय वाले आपस में लड़ते रहते हैं। इन्हें राजनीतिक संरक्षण मिल जाता है। ये वास्तविक धर्मावलम्बी नही हैं अपितु धर्म के नाम पर एकत्रित हो गये अपराधी लोग धर्म का लाभ उठाकर आपस में दंगे-फसाद कराते हैं। जाति की तरह धर्म के नाम पर भी वोट डालने के लिये प्रलोभन दिये जाते हैं। धार्मिक पंडित, मौलवी, साधु निर्वाचन-काल में फतवे जारी करते हैं। आज भारत में ऐसे बहुत से पंथ या सम्प्रदाय हैं जो वास्तव में पुराने भारत के वैदिक धर्म के समाज-सुधार आन्दोलनों की देन हैं अर्थात् ये आध्यात्मिक मार्ग या सम्प्रदाय हैं। परन्तु यह संकुचित होकर अपने आपको धर्म कहने लगे हैं। महात्मा गौतम बुद्ध का बौद्ध-धर्म, महावीर स्वामी का जैन-धर्म तथा गुरूनानक का हिन्दू-धर्म की ही रक्षा के लिये स्थापित सिख-धर्म इत्यादि ऐसे ही धर्म हैं।

भारत में जो विदेशी धर्म आये हैं, वह भी कट्टर होकर भारत में परम्परागत आपसी प्रतिद्वन्दी बन गये हैं। भारत में धर्मों की विविधता के कारण स्वतन्त्रता-आन्दोलन और स्वतन्त्रता की पूर्व संध्या पर धर्म-निरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था। परन्तु धर्म-निरपेक्षता एक नकारात्मक धारणा है। इसके अतिरिक्त धर्महीन भारतीय समाज और राजनीति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः भारत की नीति सर्व-धर्म (सम्प्रदाय) सापेक्षवाद होना चाहिये थी।

परन्तु राजनीतिक स्वार्थ के लिये जाति की तरह जब धर्म का भी दुरुपयोग किया जाने लगा तो समस्या उत्पन्न हो गयी है। आज भारत के कई राजनीतिक दल साम्प्रदायिक तुष्टिकरण की नीति पर चल रहे हैं, और उससे अपने आपको धर्म-निरपेक्ष सिद्ध करते हैं। जबकि कुछ बहुसंख्यक हिन्दुओं के मतों के आधार पर भारत में शासन या सत्ता हथियाने का स्वप्न देखते हैं। जबकि उपरोक्त दोनों ही स्थितियां भारत के लिये उपयुक्त नहीं हैं। धर्म या आस्था की समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। वह मनुष्य को नैतिक बनाये रखती है परन्तु धर्म में सहिष्णुता या दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता से ही लोकतन्त्र सफल हो सकता है। ऐसा भारत में तो कम से कम आवश्यक है ही।

इस सम्बन्ध में डॉ. एन. के. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक नेहरू और समाजवाद में लिखा है, 'भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू भी वाल्टेयर के इस कथन से सहमत थे, कि यदि दुनियाँ में ईश्वर नहीं भी है तो भी नैतिकता की स्थापना के लिये हमें उसकी आवश्यकता है और उसके अस्तित्व को हमें स्वीकार करना पड़ेगा।'

भारत के सभी नेता धर्म में आस्था रखते हैं। धर्म वर्तमान में भारत की राजनीति पर उसके कट्टरवादी सम्प्रदायों के विकास के कारण नकारात्मक भूमिका निभा रहा है। इस भूमिका को हमें सकारात्मक भूमिका में परिवर्तित कर पुराने भारत की तरह विश्व का गुरुत्व (या नेतृत्व) इस दृष्टि से पुनः प्राप्त करना ही पड़ेगा। प्रारम्भ से ही दुनियाँ अध्यात्म की दृष्टि से भारत की ओर निहारती रही है। बस हमें संकुचित अर्थों वाले सम्प्रदायवाद से अपनी राजनीति को दूषित होने से बचाना होगा।

प्रश्न– 11. कृषि राजनीति क्या है? यह भारतीय राज्य की राजनीति में क्यों महत्वपूर्ण है?

अथवा

कृषि राजनीति से क्या आशय है? इसकी प्रकृति को समझाइए।

उत्तर– भारत में राज्य की राजनीति में कृषि राजनीति देश के राजनीतिक परिदृश्य का एक महत्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है और आबादी का एक बड़ा भाग आजीविका हेतु कृषि पर ही निर्भर है। राजनीति का यह रूप किसानों और ग्रामीण कृषि क्षेत्र के मुद्दों, हितों और चिंताओं के आसपास घूमता है।

भारत में कृषि राजनीति में हालिया घटनाक्रम

(1) सरकार ने अनेक नई निम्नलिखित योजनाएँ शुरू की हैं–

(i) मृदा स्वास्थ्य कार्ड योजना
(ii) परम्परागत कृषि विकास योजना (पीकेवीवाई)
(iii) नीम लेपित यूरिया
(iv) राष्ट्रीय कृषि बाजार (ई-नाम)
(v) प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना (पीएमकेएसवाई)
(vi) ब्याज अनुदान योजना।
(vii) प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना (पीएमएफबीवाई)

(2) नई कृषि नीति में निम्नलिखित उपाय प्रस्तावित हैं–

(i) फसलों का विविधीकरण।
(ii) कृषि निर्यात को बढ़ावा देना।
(iii) कृषि-प्रसंस्करण उद्योगों को प्रोत्साहित करना।
(iv) कृषि एवं अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के बीच सम्बन्धों को मजबूत बनाना।

(3) देश के सरकार द्वारा कानून बनाना– अधिकांश राज्यों ने किरायेदार (बटाई पर खेती) खेती को सुरक्षा प्रदान करने हेतु कानून पारित किया है। कानून के अलावा किरायेदारों को जमीन से हटाया नहीं जा सकता। यदि भूस्वामी को स्वयं खेती के लिए भूमि की आवश्यकता है, तो किरायेदार को खेती के लिए एक निर्धारित न्यूनतम क्षेत्र दिया जाना चाहिए।

भारत में कृषि राजनीति की प्रकृति– भारत में कृषि राजनीति की प्रकृति की विशेषता राष्ट्र के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिदृश्य को आकार देने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। मुख्य रूप से कृषि प्रधान समाज के रूप में, कृषि भारत की अर्थव्यवस्था और कृषि जनसमुदाय के एक महत्वपूर्ण भाग की आजीविका की रीढ़ है। कृषि राजनीति इस क्षेत्र की अनूठी गतिशीलता को दर्शाती है, जो ग्रामीण क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित करती है और किसानों एवं कृषि जनसमुदाय की विशिष्ट आवश्यकताओं को सम्बोधित करती है। यह राज्य की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, नीति निर्माण, संसाधन आवंटन और चुनाव परिणामों को प्रभावित करती है। कृषि राजनीति ग्रामीण विकास, आर्थिक कल्याण, भूमि

स्वामित्व और कृषि सुधारों के मुद्दों से मजबूती से जुड़ी हुई है। इसके अलावा, इसका विचार पर्यावरण सम्बन्धी चिन्ताओं, जल प्रबंधन और भूमि उपयोग नीतियों जैसे सम्बन्धित क्षेत्रों तक विस्तृत है। भारत में कृषि एक शक्तिशाली और गतिशील शक्ति के रूप में राजनीति ग्रामीण और कृषि समुदायों के हितों और चिन्ताओं का प्रतिनिधित्व करने हेतु अति आवश्यक है। यह देश के समग्र शासन की धुरी है।

प्रश्न–12. भारतीय राज्यों की राजनीति में कृषि राजनीति की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

उत्तर– ग्रामीण कृषि क्षेत्र, समग्र राज्य अर्थव्यवस्था और अधिकांश आबादी पर इसके प्रभावों के कारण, कृषि राजनीति भारतीय राज्य की राजनीति का एक प्रमुख घटक माना जाता है। भारतीय राज्यों की राजनीति में कृषि राजनीति की भूमिका एवं प्रभाव निम्नवत् हैं–

(1) **नीति निर्माण**– राज्य की कृषि नीतियाँ कृषि राजनीति से ही आकार लेती हैं। राज्य सरकारें ऐसी कृषि नीतियाँ बनाती और क्रियान्वित करती हैं जो ग्रामीण विकास करती हैं, कृषि के सामने आने वाली समस्याओं का समाधान करती हैं और किसानों की सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखती हैं।

(2) **ग्रामीण हितों का प्रतिनिधित्व**– कृषि नीति यह सुनिश्चित करती है कि राज्य के राजनीतिक परिदृश्य में ग्रामीण एवं कृषि हितों का प्रतिनिधित्व हो। यह किसानों एवं ग्रामीण समुदायों को एक मंच प्रदान करती है जिस पर वे अपनी चिन्ताओं को व्यक्त कर सकते हैं तथा ऐसी नीतियों की माँग कर सकते हैं जो उनकी आवश्यकताओं को पूरा करती हों।

(3) **मतदाता का आधार**– अनेक राज्यों में, ग्रामीण मतदाता, विशेष रूप से कृषि से जुड़े लोग, एक बड़ा मतदान समूह बनाते हैं। कृषि राजनीति प्रायः इस मतदाता आधार को आकर्षित करने और उस पर अपनी पकड़ बनाए रखने वाली रणनीतियों पर केन्द्रित होती है क्योंकि सभी राजनीतिक दल यह जानते हैं कि ग्रामीण मतदाताओं पर जीत हासिल करना अति आवश्यक है।

(4) **संसाधन आवंटन**– कृषि राजनीति द्वारा ही कृषि क्षेत्र में संसाधनों का वितरण निर्धारित होता है। राज्य सरकारों द्वारा बुनियादी ढाँचे के विकास, सिंचाई, सब्सिडी, ऋण सुविधाओं और अन्य कृषि आवश्यकताओं हेतु धन एवं संसाधन आवंटित किए जाते हैं। कृषि राजनीति में, इन संसाधनों का उचित वितरण किया जाना अति आवश्यक है।

(5) **चुनाव की गतिशीलता**– अनेक राज्यों के चुनावों में कृषि समस्याएँ महत्वपूर्ण होती हैं। खेती, किसान कल्याण, ग्रामीण विकास और के बारे में चुनावी वादे असामान्य नहीं है। राजनीतिक दलों को मतदाताओं का दिल जीतने हेतु कृषि मुद्दों पर उनकी भावी रणनीति क्या होगी, स्पष्ट रूप से बतानी होती है।

(6) **संकट प्रबंधन**– प्रायः कृषि आपदाएँ, जैसे सूखा, बाढ़ या फसल की विफलता, कृषि राजनीति को उजागर करती हैं। इन स्थितियों में राज्य सरकारों को शीघ्रता से अपनी प्रतिक्रिया देने की आवश्यकता होती है क्योंकि वे इन समस्याओं से कैसे निपटते हैं, इसका भी बड़ा राजनीतिक प्रभाव होता है।

(7) **कृषि संघ और आन्दोलन**– इन समूहों में राज्य की राजनीति को प्रभावित करने और ग्रामीण जनसमुदाय को संगठित करने की क्षमता है। ये संगठन सरकार की नीतियों के खिलाफ प्रदर्शन तथा रैलीयाँ आयोजित करके नीतिगत निर्णयों को प्रभावित करने और मीडिया एवं जनता का ध्यान आकर्षित करने की शक्ति रखते हैं।

(8) **ग्रामीण विकास के लिए पहल**– कृषि राजनीति एवं ग्रामीण विकास दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। राज्य सरकारों को ग्रामीण बुनियादी ढाँचे, शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल तथा अन्य महत्वपूर्ण सेवाओं में निवेश करना चाहिए। ये प्रायः कृषि सम्बन्धी चिन्ताएँ हैं जिनको नीति निर्माण द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

(9) **भूमि उपयोग और पर्यावरण नीतियाँ**– कृषि राजनीति और भूमि उपयोग और पर्यावरण नीतियों के बीच परस्पर सीधा सम्बन्ध है। कृषि राजनीति में कीटनाशकों के उपयोग, जल प्रबंधन, भूमि अधिग्रहण और वन संरक्षण हेतु नीति निर्माण करना शामिल है।

(10) **कृषि सुधारों पर प्रभाव**– कृषि राजनीति से कृषि सुधारों की दिशा प्रभावित हो सकती है। प्रायः राजनीतिक बातचीत एवं निर्णय लेने की प्रक्रिया में भूमि उपयोग नियमों, भूमि अधिग्रहण और कृषि विपणन में संशोधन के बारे में बहस छिड़ जाती है।

(11) **कृषि विपणन के लिए समर्थन**– किसानों की आजीविका तथा आय पर इनका बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः कृषि विपणन से सम्बन्धित नीतियाँ, कृषि बाजारों (मंडियों) का निर्माण एवं ई–एनएएम (राष्ट्रीय कृषि बाजार) मंच, कृषि राजनीति का हिस्सा है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय राज्य की राजनीति में, कृषि राजनीति आवश्यक है क्योंकि यह आबादी के एक बड़े वर्ग के हितों को प्रतिबिम्बित करती है, प्रत्येक राज्य के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को आकार देती है, नीतिगत निर्णयों को तथा चुनाव परिणामों को भी प्रभावित करती है। यह भारत में राज्य की राजनीति का एक महत्वपूर्ण तथा गतिशील पहलू है, जो कृषि क्षेत्र में आने वाली विशेष कठिनाइयों और संभावनाओं को प्रदर्शित है।

<u>लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-</u>

प्रश्न–(1) क्षेत्रीयतावाद को जन्म देने वाले तत्व बताइये।

उत्तर– क्षेत्रीयतावाद को जन्म देने वाले तत्व– राजनीति में क्षेत्रीयतावाद को निम्न तत्वों ने बढ़ावा दिया है–

(1) भौगोलिक और सांस्कृतिक– यह क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा देने वाला सबसे शक्तिशाली तत्व है। राज्य पुनर्गठन में भूगोल ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, क्योकि इसमें पुरानी भौगोलिक सीमाओं को भुलाया नहीं जा सका। उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ राज्यों का निर्माण भौगोलिक कारणों से ही हुआ।

(2) ऐतिहासिक तत्व– क्षेत्रीयतावाद को पनपने में ऐतिहासिक कारण भी रहे हैं। इसकी भूमिका नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार की रही है। सकारात्मक योगदान में शिवसेना का नाम लिया जा सकता है, जो शिवाजी के गौरवपूर्ण इतिहास को लेकर महाराष्ट्र में क्षेत्रीय राष्ट्रीयता को हवा देकर शक्तिशाली बनी है। नकारात्मक

में इस दृष्टि से मुलेन कमीशन को देख सकते हैं, जो उनकी हिन्दी भाषी प्रान्त के प्रति घृणा पर आधारित क्षेत्रीय राजनीति कर रही है।

(3) जातिवाद– जाति ने भी क्षेत्रीयतावाद के बढ़ाने में योगदान दिया है, जिन क्षेत्रों में एक ही जाति की प्रधानता रही है वहां उग्र क्षेत्रीयतावाद पनपा। हरियाणा और अब उत्तराखण्ड की मांग इसका मुख्य उदाहरण है। महाराष्ट्र भी इस तत्व से प्रभावित है।

(4) धार्मिक उन्माद - यह भी प्रादेशिकतावाद को उग्र जामा पहना देती है। पंजाब में अकालियों ने उग्रवाद को बढ़ावा देकर राष्ट्र को काफी क्षति पहुँचाई।

प्रश्न–(2) भारतीय राजनीति में संघवाद पनपने के कारण बताइये।

उत्तर– संघवाद के पनपने के कारण– संघवाद के पनपने का एक मुख्य कारण तो यह है कि भारत में आर्थिक विकास तेज गति से नहीं हो पाया और जो हुआ भी है वह असन्तुलित है। कुछ प्रदेशों का अधिक विकास हो गया है, कुछ का कम। हिन्दी क्षेत्रों में कम विकास होने के लिये लोग प्राकृतिक कारणों को नहीं अपितु सत्तारूढ़ व्यक्तियों को दोषी मानते हैं। यह एक सामान्य धारणा भी है कि जो सत्तारूढ़ होते हैं वे अपने-अपने क्षेत्रों के विकास को स्वाभाविक रूप से प्राथमिकता देते भी हैं। वोट बैंक के लिये भी ऐसा किया जाता है। इसलिये इस क्षेत्रीय असन्तुलन के लिये राजनीति को दोषी माना जाता है। यद्यपि यह धारणा अतिशयोक्तिपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक तथा अन्य तत्व भी विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कभी-कभी राजनीतिक दल किसी क्षेत्र में अपनी स्थिति मजबूत बनाकर उसे अपनी पकड़ बनाने के लिये क्षेत्रीयतावाद का सहारा लेते हैं। चुनावों के अवसर पर भी क्षेत्रीयतावाद को उभारा जाता है।

प्रश्न–(3) संघवाद के दुष्परिणामों को समझाइये।

उत्तर– संघवाद के दुष्परिणाम के निम्नलिखित हैं–

(1) दुष्परिणाम में क्षेत्रीयता का सहारा लेना दुष्प्रवृत्ति है।

(2) संघवाद के कारण कभी-कभी हिंसा भी पकड़ लेती है। क्षेत्र व भाषा के उग्र आन्दोलन इसके उदाहरण है।

(3) कुछ दल इस अपनी सही लोकप्रियता का भाजन बनाकर राजनीति को प्रदूषित करते हैं।

(4) मंत्रिमण्डल के निर्माण में भी संघवाद का सहारा लिया जाता है, प्रधानमंत्री व्यक्ति दूसरे के सहयोग से परन्तु क्षेत्र दूसरे से नहीं।

(5) संघवाद के कारण राजनीति में क्षेत्रीयता आती है और प्रशासन तथा मंत्री का होता है। प्रशासन के लिये दूरदर्शिता रखते जन के दिखावटी को छोड़कर विकास एक कमाल का दृष्टिकोण।

(6) इसके पनप जाने के बाद व्यापक राष्ट्रीय या प्रादेशिक हितों की अवहेलना होने लगती है।

(7) यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक है।

प्रश्न–(4) क्षेत्रीयतावाद की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है? समझाइये।

उत्तर– क्षेत्रीयतावाद की समस्या का समाधान– भारत में क्षेत्रीयतावाद राजनीति की आधुनिक कार्यशैली है। इस प्रकार के क्षेत्रीयतावादी आन्दोलन प्रारम्भ में आर्थिकपिछड़ेपन की शिकार से ही होते हैं। ये तब समस्या बन जाते हैं, जब ये उग्र और हिंसक बन जाते हैं। इसने प्रारम्भ में ही भाषावार प्रान्तों के निर्माण की मांग पकड़कर इस देश राष्ट्रवाद के भाग्यविधाता को प्रभावित किया है। आज भी राज्य की अलग विधायी सरकार अपने स्वार्थ के लिये सक्रिय दलों को बढ़ावा दे रही है। अब हम अपने सामने कुछ भयावहता से भला कैसे बच सकते हैं? इस पृथकतावादी आन्दोलन को क्षेत्रीयतावाद से कैसे सम्बन्धित किया जा सकता है। इसका उग्र राष्ट्रवाद पनपकर कहीं राष्ट्र के टूटने की बात का कारण भी उत्पन्न हो सकता है।

आपने एक लेख में डॉ. एम. के. वेणुगोपाल ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया कि अब हम विकेन्द्रीयकरण की बात को और उसके महत्व को परिभाषित करते हैं तो छोटे-छोटे राज्य बनाने में हर्ज क्या है? वास्तव में छोटे-छोटे राज्यों के निर्माण से क्षेत्रीय असन्तोषी शासन की व्यवस्था होगी। जनता और प्रशासन में निकट सम्बन्ध स्थापित होंगे। प्रशासन में कार्यकुशलता आयेगी। केन्द्र छोटे-छोटे राज्यों में होने पर शक्तिशाली होगा। आर्थिक विकास भी तीव्र गति से होगा। ऐसा अब हम पंजाबी राज्य और विशाल हरियाणा की मांग करते हैं तो छोटे-छोटे राज्य क्या बुरे हैं? राज्य पुनर्गठन आयोग ने भी इस सम्बन्ध में पहले ही सुझाव दिये थे। आज देश में जिस तरह के नये राज्यों की मांग उठ रही है, इस दृष्टि से भी छोटे-छोटे राज्य ही अधिक उपयुक्त है। क्योंकि देश में अधिकांश भारतीय यह अनुभव करते हैं कि बड़े राज्यों की कमी ही नहीं बल्कि सुशासन के अनुकूल वातावरण का अभाव है।

प्रश्न–(5) संघवाद भारतीय राजनीति को कैसे प्रभावित करता है?

उत्तर– संघवाद एक जटिल राजनीतिक बुराई है। इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है, क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश या देश के किसी भाग से है, जो आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषायिक, आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिये जागरूक हो।

भारत में संघवाद कोई नई बात नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर संविधान निर्माताओं ने भारत में संघ शासन की व्यवस्था की थी। भारत में वर्तमान क्षेत्रीयतावाद की जो प्रवृत्ति है वह विभिन्न आयामों के कारण हुई। इसी संघवाद की समस्या के कारण स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद केन्द्र राज्य सम्बन्धों की समस्या उत्पन्न हुई तथा राज्यों के पुनर्गठन में अनेक जटिलताएँ उत्पन्न हुईं। यद्यपि यह समस्या इसी क्षेत्रियता भाषावाद के विकासवाद में मिलती है परंतु आज इसने भारत में राष्ट्रवाद का स्वरूप ले लिया है और इसी के आधार पर हमें भाषा-भाषण पर पृथक-पृथक राज्यों की मांग सुनाई देती है। इसी संघवाद के आधार पर ही प्रादेशिकता में सम्बन्धित दल उत्पन्न हुए जैसे पंजाब में अकाली दल (शिरोमणि), असम विधान में असम गण परिषद की स्थापना हुई है। संघवाद की प्रवृत्ति के कारण ही भारत के विभिन्न राज्यों में आपस में भी तनाव बढ़ा है।

प्रश्न–(6) 'क्षेत्रवाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक है।' समझाइये।

उत्तर– राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक– क्षेत्रीयतावाद भारत की राष्ट्रीयता के विकास और विशेष कर राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। भारत में क्षेत्रीयता के कारण यहां के रहने वाले पंजाबी हैं, सिन्धी हैं, बंगाली हैं, असमी हैं, तमिल हैं, कर्नाटकी हैं। यहां तक कि छत्तीसगढ़ी हैं, मालवी हैं, बृजवासी हैं, परन्तु वे भारतीय नहीं हैं। जब सम्पूर्ण भारतीय हित की बात आती है, तो वे समस्त भारतीय हित पर अपने क्षेत्रीय हित का परित्याग करने के लिये मुश्किल से ही तैयार होते हैं। इसलिये भारत राष्ट्र के रूप में निरन्तर शक्तिहीन होता जा रहा है। विदेशी हमारी इस कमजोरी का लाभ उठाकर भारत के समग्र हितों की अवहेलना करते हैं। कभी–कभी तो ऐसा लगता है कि हम जब अपनी–अपनी क्षेत्रीय पहचान के लिये इतने लालायित होते हैं तो कहीं ऐसा तो नहीं है कि भारत एक राष्ट्र हो ही नहीं या भविष्य में रह ही न जाये। इससे भारत के विभाजन के षड्यन्त्रों के सफल हो जाने की सम्भावना है।

प्रश्न–(7) साम्प्रदायिकता की समस्या के तीन कारण बताइये।

उत्तर– साम्प्रदायिकता की समस्या के कारण– ये कारण निम्नलिखित हैं–

(1) सबसे पहला कारण मुस्लिम पृथकतावाद की प्रवृत्ति है। स्वतंत्रता के बाद भी यह प्रवृत्ति बनी हुई है। भारत का मुस्लिम अभी भी अपने को पूर्णतया भारतीय नहीं मान पाता। चुनावों में उनका मतदान–व्यवहार धर्म–प्रेरित होता है। उन्हें यह लगता है कि भारत में उनकी स्थिति द्वितीय श्रेणी के नागरिक की है। उन्हें उग्र हिन्दूवादियों से डर रहता है। 1952 में जमाते इस्लामी ने मुसलमानों को चुनाव बहिष्कार का परामर्श दिया। मुसलमानों में धर्मान्धता व पिछड़ापन है तथा राष्ट्रवाद की भावना प्रबल नहीं है। पाकिस्तान भी भारत की मुस्लिम जनता को भड़काता रहता है।

(2) हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन यह दूसरा कारण है। इनमें हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा शिवसेना का नाम प्रमुख हैं। इमरजेन्सी में इसीलिये इन पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे।

(3) सरकार ने कभी इस समस्या के समाधान के लिये कठोर कदम नहीं उठाये। उल्टे तुष्टिकरण की नीति का संचालन किया।

इकाई–4

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर–

प्रश्न–1. भारतीय दलीय–प्रणाली के प्रमुख दोष क्या हैं? इन दोषों को दूर करने के लिये अपने सुझाव दीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीतिक दलीय–पद्धति पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिये।

अथवा

भारतीय दलीय प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

अथवा

भारतीय प्रजातन्त्र में प्रमुख राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

अथवा

भारत में किस प्रकार की दल–प्रणाली है? क्या यह दल–प्रणाली आपके मतानुसार दोषपूर्ण है? इसमें सुधार के सुझाव दीजिये।

अथवा

भारत की राजनीतिक दलीय–प्रणाली से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

उत्तर– भारत एक प्रजातन्त्रात्मक देश है। इसमें भी अन्य आधुनिक देशों की तरह राजनीतिक दलों का विकास हुआ है। ये राजनीतिक दल एक सुसंगठित दल–प्रणाली का निर्माण और विकास करते हैं। दल–प्रणाली से यहाँ हमारा आशय एक विशिष्ट प्रकार की राजनीतिक दलीय व्यवस्था से है। भारतीय दल–प्रणाली जिसका जन्म राष्ट्रीय आंदोलन में हुआ और विगत् 50–60 वर्ष में जिसका समुचित विकास होकर भारतीय राजनीति व शासन को संचालित कर रही है। इसकी अपनी कुछ विशेषतायें हैं। **भारतीय दल–व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें** निम्नलिखित हैं–

(1) **प्रारम्भ में विकसित एक दल–प्रधान बहुदलीय व्यवस्था–** भारत में प्रारम्भ में एक दल प्रधान (काँग्रेस प्रधान) एक दलीय–व्यवस्था विकसित हुई थी। यह एक दलीय प्रधानता राष्ट्रीय आंदोलन की देन थी, क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन में भारत के विभिन्न राजनीतिक विचारधारा वाले लोग ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक मंच के रूप में संगठित हुये थे और काँग्रेस ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक शक्तिशाली मंच था। महात्मा गाँधी चाहते थे कि स्वतन्त्रता के बाद काँग्रेस की भूमिका समाप्त होकर इसे एक राजनीतिक दल के रूप में समाप्त हो जाना चाहिये। वह नहीं हुआ और भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस आजादी के बाद भी आजादी पूर्व की अपनी लोकप्रियता को भुनाती हुई अन्य दलों पर हावी रही। इसलिये प्रारंभिक 20 वर्षों तक भारतीय राजनीति पर भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का एकाधिकार बना रहा।

(2) बहुदलीयता– ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था का सर्वाधिक प्रभाव होते हुये भी भारत में ब्रिटेन और अमेरिका में प्रचलित और सफल द्विदलीय व्यवस्था स्थापित न हो सकी, क्योंकि भारत में ध्रुवीकरण नहीं हो सका और विचारधारा की दृष्टि से कई राजनीतिक ध्रुव विकसित हुये। जैसे– (1) लोकतांत्रिक समाजवाद। (2) साम्यवाद (3) राष्ट्रवाद (4) पूँजीवाद और सामन्तवाद तथा (5) मध्य मार्ग। इसके अतिरिक्त भारत में कुछ क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक दल भी विकसित हुये।

(3) राजनीतिक दलों के तीन प्रकार– भारत में तीन प्रकार के राजनीतिक दल पाये जाते हैं– (1) राष्ट्रीय (2) क्षेत्रीय (3) साम्प्रदायिक। इन तीनों ही प्रकार के दलों को कुछ न कुछ वोट अवश्य मिलते हैं और ये भारतीय राजनीति को नियन्त्रित व सन्तुलित करते हैं।

(4) दलीय अनुशासन– भारतीय राजनीतिक दलों में (कम्युनिस्ट को छोड़कर) दलीय अनुशासन का बहुत अभाव पाया जाता है। अतः दलों में विश्वास का दोष देखने को मिलता है और इनमें प्रायः विभाजन होता रहता है। इनमें इसी कारण अस्थायित्व भी देखने को मिलता है।

(5) अधिकांश दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र का अभाव– भारत के अधिकांश दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र नहीं है। भारतीय जनता पार्टी में एक विशेष प्रकार का गुट है जो हावी है। कम्युनिस्ट पार्टी लोकतांत्रिक केन्द्रवाद पर आधारित है।

(6) शक्तिशाली प्रतिपक्षी भूमिका का अभाव– भारत में बहुदलीय व्यवस्था होने से कभी शक्तिशाली प्रतिपक्ष नहीं रहा है। इसलिये यहां छाया मन्त्री-मण्डल जैसी स्थिति कभी नहीं बनी।

(7) राजनीतिक दलों की नीतियों व कार्यक्रमों में स्पष्ट भेद का अभाव– भारत के अधिकांश राजनीतिक दलों में नीतियां व कार्यक्रम की स्पष्टता नहीं है। इसलिये वे जनता के सामने एक विकल्प प्रस्तुत कर यह नहीं कह सकते कि उनके चुनाव घोषणा-पत्र को वे कड़ाई से लागू करेंगे ही। हम देखते हैं कि अधिकांश दल चुनाव जीतने के बाद अपने घोषणा-पत्र को ताक पर रख देते हैं। संयुक्त-मोर्चाओं में प्रायः यही होता है और जनता बार-बार छली जा रही है।

(8) दल-बदल– दल-बदल भारतीय राजनीति और राजनीतिक दल व्यवस्था की बहुत बुरी बीमारी है। आये दिन आया राम गया राम की राजनीति के समाचार सुनने-पढ़ने को मिलते हैं। जनता यह निश्चित नहीं कर पाती कि वह एक प्रतिनिधि को जिस दल की नीति व कार्यक्रम पर चुनकर भेज रहा है वह उसे कब छोड़कर दूसरे दल में चला जायेगा?

(9) निर्दलीय– भारत में राजनीतिक दलों के साथ निर्दलीय भी चुनाव जीतकर बहुत बड़ी संख्या में प्रतिनिधि सभाओं में पहुंच जाते हैं जो कि सत्ता और नीतियों को प्रभावित करते हैं।

(10) प्रधानता के लिये प्रतियोगिता– भारत में बहुदलीय व्यवस्था में प्रधानता के लिये प्रतियोगिता की स्थिति प्रत्येक दल का उद्देश्य है। वह दल द्विदलीय या शक्तिशाली प्रतिपक्ष की स्थिति को पसंद नहीं करते, केवल यह चाहते हैं कि उनके दल की प्रमुखता रहे और अन्य बहुत से दल कमजोर बने रहें। कॉंग्रेस ने नेहरू के काल से लेकर नरसिम्हाराव तक अपने सिवाय किसी शक्तिशाली प्रतिपक्षी दल को नहीं पनपने दिया। अटल बिहारी सरकार को गिराना इसी का परिचायक है। नेहरू दूसरे दलों के सिद्धान्तों और नीतियों को हड़पकर उनके अस्तित्व को समाप्त करने की राजनीति के लिये प्रसिद्ध थे।

(11) दलों में नेताओं की सिद्धान्तों के स्थान पर व्यक्तित्व प्रधानता– भारत में राजनीतिक दलों में सिद्धान्त की प्रधानता न होकर व्यक्ति प्रधानता की स्थिति सामान्यतः पाई जाती है। नेता लोग अपना-अपना गुट बनाकर दल में अन्तः दलीय सम्बन्धों को प्रभावित कर राजनीति को दूषित करने तथा आम जनता की उपेक्षा में लगे हुये हैं।

भारतीय दल-प्रणाली के गुण-दोष– भारतीय दल-प्रणाली के गुण निम्न प्रकार हैं–

1. एक दल-प्रधान बहुदलीय व्यवस्था का विकास– भारत में राजनीतिक दल-प्रणाली के विकास का अध्ययन तथा लोक सभा के 11 आम चुनाव तथा विधान सभा के काफी चुनावों का अध्ययन हमें बताता है कि अखिल भारतीय स्तर पर भारत का जनमत बहुत-से राजनीतिक दल होते हुये भी किसी एक राजनीतिक दल को पसन्द करता है। वह खिचड़ी सरकारों को पसन्द नहीं करता। एकाध बार यदि धोखे से खिचड़ी सरकारें बन भी गईं तो वे

विफल हुईं और अगली बार हम देखते हैं कि जनता ने स्थायी सरकार के लिये किसी दल को बहुमत दिया या ऐसी परिस्थितियाँ बना दीं कि उसी दल की सरकार बने।

भारतीय दल प्रणाली के गुण दोष

1. एक दल प्रधान बहुदलीय व्यवस्था का विकास
2. कठोर दलीय अनुशासन का अभाव
3. भारत की विशालता के अनुरूप दलीय विविधता

2. कठोर दलीय अनुशासन का अभाव– भारत की दल-प्रणाली में शुरू से ही आन्तरिक लोकतन्त्र प्रभावशाली रहा है। यहाँ कभी कठोर दलीय अनुशासन स्थापित नहीं हो पाया। जब भी किसी दल में कठोर दलीय अनुशासन की स्थापना का प्रयास किया गया तो उस दल की क्षति हुई है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी के काल में कॉंग्रेस को क्षति उठानी पड़ी। कठोर अनुशासन से दल खण्डित होने के कई उदाहरण मिलते हैं जबकि दलीय आन्तरिक लोकतन्त्र महात्मा गाँधी के समय से ही असफल रहा है।

3. भारत की विशालता के अनुरूप दलीय विविधता– भारत एक विशाल देश है। इसमें विभिन्न धर्म प्रान्त, भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाजों और पहनावे के लोग रहते हैं। इतने बड़े देश में मत-विभिन्नता स्वाभाविक है। व्यक्तियों के हित भी अलग-अलग हैं। इन सब हितों का प्रतिनिधित्व कोई एक या दो दल नहीं कर सकते। इतने बड़े देश में ध्रुवीकरण द्वारा द्विदलीय व्यवस्था की कल्पना करना बेकार है। इनकी अभिव्यक्ति के लिये विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रकार के दलों की आवश्यकता है। इसलिये भारत में क्षेत्रीय, स्थानीय, भाषावाद दल हैं। जैसे कि– अकाली दल, तेलुगूदेशम, द्रविणमुनेत्रकणगम, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, रिपब्लिकन पार्टी, शिव सेना। ये दल कभी राष्ट्रीय तो हो नहीं सकते हैं, परन्तु इनके द्वारा जिन स्थायी हितों की वकालत की जाती है, उनकी वकालत या तो ये स्थानीय दल कर सकते हैं या दबाव-समूह। दबाव-समूहों की अपेक्षा यह दल इन हितों के लिये अधिक उपयुक्त हैं।

निष्कर्ष– उपरोक्त समस्त विशेषतायें भारतीय राजनीति और दलीय-प्रणाली के दोष हैं। इन्हीं के कारण आज भारतीय राजनीति की यह दुर्दशा हुई है कि भारत राजनीतिक दलों का दलदल बन गया है और भारतीय जनता इस दलदल या दलों की कीचड़ में कमल (सुन्दर पुष्प) प्राप्त करने का मृग-मरीचिका जैसा प्रयास कर रही है। वास्तव में भारत का विगत् 60 वर्ष का इतिहास बताता है कि भारत में इन दलों का न कोई स्थायी सिद्धांत या नीतियां है न कार्यक्रम। ये तो सत्ता के भूखे भेड़ियों के झुण्ड बनकर रह गये हैं। जनता भी यह जानती हैं कि ये सब सत्ता के लिये लड़ने वाले, एक दूसरे को गाली-गलोंच देने वाले सिद्धान्तहीन भारतीय राजनीतिज्ञों के समूह हैं, जो एक बार चुने जाने के बाद सिद्धान्तों को ताक में रखकर समझौता करके जनता तथा देश का मखौल उड़ाने के लिये हर 5 वर्ष बाद चुनाव के नाटक में बहुरूपिये के रूप में हमें दिखाई देते हैं, परन्तु विगत् 60 वर्ष में देश की राजनीति ही कुछ इस प्रकार की विकसित हुई है जिसमें जातिवाद, क्षेत्रवाद, सम्प्रदायवाद, संकुचित स्वार्थ हितों के विष-वृक्ष भारतीय राजनीति में बोये गये हैं अतः इनसे अच्छे पौधों और फूलों-फलों की आशा हम कैसे कर सकते हैं?

भारत मे राजनीतिक दल निर्वाचन के समय तो आपस में कीचड़ उछालते हुये दिखाई देते हैं और जनता को झूठे वायदे तथा दूसरों को खोटा और अपने को खरा बताकर चुनाव लड़ते हैं। वही दल चुनाव के बाद जब सरकार में मन्त्री-पद पाने हेतु स्वार्थवश गठबंधन करते हैं तो यह सारा विरोध और सिद्धान्त गायब हो जाता है। भारत में इतने राजनीतिक दल हैं और वे बनते-बिगड़ते तथा विलय और विभाजित होते रहते हैं कि राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये उनका पूरा हिसाब रख पाना बड़ा कठिन होता है। इसलिये यहां केवल बड़े-बड़े दलों का ही अध्ययन किया जाता है।

अतः भारत के राजनीति-विज्ञान के छात्रों को चाहिये कि वे दल-प्रणाली में सुधार कर भारत में लोकतन्त्र को सही व पवित्र बनाये रखने के लिये आवश्यक जनमत तैयार करें। जनता को इन कुकरमुत्ते की तरह उग आये दलों को नकार देना चाहिये और स्वस्थ द्विदल-प्रणाली के पक्ष में जनमत बनाना चाहिये।

प्रश्न-2. भारतीय दल व्यवस्था के बदलते स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

अथवा

भारतीय राजनीतिक दल-प्रणाली में उदित हो रही नयी प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिये।

अथवा

भारतीय राजनीतिक दल व्यवस्था में हुये परिवर्तनों की समीक्षा कीजिये।

उत्तर- दल व्यवस्था राजनीतिक प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। राजनीति में आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का प्रभाव दल व्यवस्था पर पड़ता है। स्वतन्त्र भारत में बहुदलीय पद्धति विकसित हुयी। स्वतन्त्रता के बाद आज तक भारत की दल-व्यवस्था के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। भारतीय दल व्यवस्था ने तीन स्वरूप ग्रहण किये हैं जो कि इस प्रकार हैं-

प्रथम- एक दल (कॉंग्रेस) की प्रधानता वाली दलीय व्यवस्था 1947 से 1966, 1971 से 1977, 1980 से 1988 की हालत भाजपा की आँधी में बदतर हो गई है।

द्वितीय- प्रतियोगी दलीय व्यवस्था जिसमें कॉंग्रेस की किसी एक राजनीतिक दल से नहीं वरन् विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न राजनीतिक दलों से प्रतियोगिता थी।

तृतीय- भारतीय जनता पार्टी और भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली गठबन्धन की एवं कॉंग्रेस की वामपन्थी दलों और अन्य कुछ दलों से प्रतियोगिता (1996 से 2004, 2009 में)- इस अवधि में भाजपा और कॉंग्रेस दोनों राजनीतिक दलों ने सिद्धान्त विहीन गठबन्धन बनाये। इसका प्रभाव वर्तमान भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ा है। इन परिवर्तनों का संक्षेप में विवरण इस प्रकार है-

(1) कॉंग्रेस दल की शक्तियों में उत्तरोत्तर कमी- 1885 से स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस भारत का सबसे बड़ा राजनीतिक दल है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश पर लगभग बयालीस वर्षों तक इस दल का शासन रहा है। 1984 के लोकसभा चुनाव में कॉंग्रेस को लोकसभा में 508 स्थानों में से 401 स्थानों पर सफलता प्राप्त हुई। इसके बाद इस दल ने नवीं लोकसभा में 193, दसवीं लोकसभा में 232, ग्यारहवीं लोकसभा में 140, बारहवीं लोकसभा में 141 और तेरहवीं लोकसभा में 114 स्थान प्राप्त किये, परन्तु चौदहवीं तथा पन्द्रहवी लोकसभा में कॉंग्रेस को अपने सहयोगियों सहित अच्छी सफलता मिली और केन्द्र में दोनों बार वामपंथियों के सहयोग से कॉंग्रेस पुनः सत्तारूढ़ हो गयी। परन्तु सोलहवीं लोकसभा चुनावों में कांग्रेस की करारी हार हुई। उसे मात्र 44 सीटें ही मिलीं। इस प्रकार उसका वोट बैंक नीचे खिसक गया।

(2) भाजपा की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि लेकिन स्थिति सन्तोषजनक नहीं- 1984 से लेकर वर्तमान तक भाजपा की शक्ति बढ़ी है। सन् 2000 से लेकर 2009 तक जितने भी भाजपा शासित राज्यों में चुनाव हुये उनमें भाजपा की शक्ति की कमी देखने को मिली। परन्तु सोलहवीं लोकसभा के चुनावों में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और भाजपा की सरकार बनी तथा नरेन्द्र मोदी प्रधान मंत्री बने।

(3) क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्धि- भारत की आजादी के कुछ वर्षों के बाद ही भारत में क्षेत्रीय दल अस्तित्व में आ गये। यद्यपि राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भी हिन्दू महासभा, अकाली दल, जस्टिस पार्टी जैसे कुछ क्षेत्रीय दल भारतीय राजनीति में सक्रिय थे। वर्तमान में भारतीय राजनीति में प्रमुख सक्रिय राजनीति दल हैं- वाम मोर्चा, डी. एम. के., अकाली दल, अन्ना डी. एम. के., तेलुगूदेशम, नेशनल कॉंफ्रेंस, मुस्लिम लीग, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी आदि हैं। पहले इनका प्रभाव क्षेत्र सीमित था। लेकिन 1990 के बाद ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं लोकसभा में क्षेत्रीय दलों की शक्ति में असीमित वृद्धि हुयी। 1996 के बाद बनने वाली गठबन्धन सरकारों में क्षेत्रीय दलों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही। परन्तु अभी 2014 के लोकसभा चुनावों में क्षेत्रीय दलों की बहुत दुर्गति हुई है। अनेक क्षेत्रीय दलों का इन चुनावों में सफाया हो गया है।

राजनीतिक दलों की कथनी और करनी में अन्तर- भारत में आज जो दल-प्रणाली क्रियाशील है, उसमें यह देखने को मिल रहा है कि राजनेताओं का राजनैतिक चरित्र बदल गया है। सभी राजनीतिक दलों के नेताओं के द्वारा लोक लुभावन मुखौटे पहनकर जनता को मूर्ख बनाया जा रहा है। सभी राजनीतिक दलों के नेताओं में ईमानदारी का अभाव देखने को मिल रहा है। हर राजनीतिक दल का नेता किसी न किसी घोटाले में लिप्त है। अभी हाल ही में जो प्रवृत्ति देखने को मिली है दलीय अनुशासन अब शिथिल हो गया है। सन् 2000 में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पश्चिम बंगाल तथा उड़ीसा में जो राज्य सभा के चुनाव हुये थे उसमें सभी राजनीतिक दलों के नेताओं ने दलीय अनुशासन को तोड़ते हुये क्रॉस वोटिंग किया था। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक दल-व्यवस्था अब अनेक विकृतियों का शिकार हो रही है।

(5) राजनीतिक दलों की नीतियों और कर्तव्यों में स्पष्ट भेद का अभाव- भारत में आजादी के बाद जो राजनीतिक दल-प्रणाली विकसित हुयी थी उसमें दलों का गठन व्यक्तियों के आधार पर न होकर एक विचारधारा के आधार पर हुआ था। जैसे दक्षिणपंथी, वामपंथी, पूँजीवादी, समाजवादी आदि। वर्तमान में आजादी के पचास वर्ष बीतने के बाद जब हम भारत की दल व्यवस्था को देखते हैं तो हमें लगता है कि वामपंथी दलों को छोड़कर किसी भी राजनीतिक दल की कोई विचारधारा नहीं है। सभी राजनीतिक दलों का अवसरवादी चरित्र

हो गया है। आज की भारतीय राजनीति में राजनीतिक दलों की विचार से प्रतिबद्धता लगभग समाप्त सी हो गयी है।

प्रश्न–3. भारत में गठबन्धन की राजनीति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखते हुये यह बताइये कि क्या गठबन्धन की राजनीति भारत में सफल हो सकी है?

अथवा

भारत में गठबन्धन की राजनीति के प्रारम्भ और विकास के बारे में आप क्या समझते हैं? संक्षेप में लिखिये।

अथवा

भारतीय राजनीति में गठबन्धन या साझा सरकार की राजनीति कितनी सफल हो सकी है? संक्षेप में समझाइये।

उत्तर– भारत में गठबन्धन की सरकारों अथवा मिली–जुली सरकारों की राजनीति का अध्ययन निम्नलिखित है–

(1) स्वतंत्रता से पूर्व गठबन्धन की सरकार– भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में गठबन्धन वाली सरकार के गठन का इतिहास देश को मिली स्वतंत्रता से पूर्व से शुरू होता है। भारत के लिये नये संविधान की रचना करने के लिये कैबिनेट मिशन द्वारा एक अन्तरिम सरकार का गठन किया गया था। इस सरकार में भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों, कांग्रेस, मुस्लिम लीग, अकाली, दल, हिन्दू महासभा आदि को शामिल किया गया था। इस अन्तरिम सरकार में सभी दलों के कुल 14 प्रतिनिधि सम्मिलित हुये थे। इनमें कांग्रेस के 6, मुस्लिम लीग के 5, अकाली दल का 1, एंग्लो इंडियन समुदाय का 1 तथा पारसी समुदाय का एक सदस्य था। अन्तरिम सरकार का अध्यक्ष गवर्नर जनरल को बनाया गया था। भारतीय प्रशासन के सभी विभाग अन्तरिम सरकार को सौंप दिये गये थे। इस अन्तरिम सरकार के प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू थे। इस अन्तरिम सरकार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तब तक कार्य किया जब तक कि देश में नया संविधान प्रभावी नहीं हो गया।

(2) सन् 1952 से 1966 ई. तक मिलीजुली सरकार– स्वतंत्र भारत के प्रथम संसदीय चुनाव सन् 1952 में हुये। इस चुनाव में भाग लेने के लिये तत्कालीन चुनाव आयोग ने 14 राजनीतिक दलों को राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक दलों के रूप में मान्यता दी थी। इन प्रथम संसदीय आम चुनावों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ था, क्योंकि कांग्रेस के समकक्ष उस समय कोई अन्य व्यापक राजनीतिक दल नहीं था। पं. जवाहर लाल नेहरू ने अपने प्रथम मंत्रिमंडल में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, गोपाल स्वामी अयंकर जैसे गैर कांग्रेसी सदस्यों को भी अपने मंत्रिमंडल में शामिल किया था।

(3) सन् 1967 से 1977 तक मिलीजुली सरकार– चौथे आम चुनाव के बाद कांग्रेस पार्टी को केन्द्र में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ था। परन्तु देश में अनेक राज्यों में गठबन्धन या मिली–जुली सरकारों का गठन हुआ था। सन् 1969 ई. में कांग्रेस पार्टी अपने अन्दरूनी मतभेदों के कारण दो भागों में विभाजित हो गयी थी, अतः श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सरकार को कम्युनिस्ट पार्टी के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ा था। सन् 1967 ई. में हुये चुनावों के बाद बिहार, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा आदि राज्यों में गठबन्धन या मिली जुली सरकारों

के बनने तथा गिरने का सिलसिला प्रारम्भ हो गया था, किन्तु केन्द्र में कांग्रेस की ही सरकार थी।

(4) केन्द्र में गठबन्धन सरकार– जनवरी 1977 में कांग्रेस से अलग हुये राजनीतिक दलों का संगठन कांग्रेस, विद्रोही कांग्रेसियों की पार्टी कांग्रेस फोर डेमोक्रेसी, जनसंघ तथा कम्युनिस्ट पार्टी ने मिलकर जनता पार्टी की सरकार का गठन किया। मोरारजी देसाई को जनता पार्टी का अध्यक्ष तथा चौधरी चरण सिंह को उपाध्यक्ष बनाया गया।

(5) प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर का राष्ट्रीय मोर्चा सरकार (1989 ई.)– सन् 1989 ई. में श्रीमती इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) से अनेक नेताओं ने त्याग–पत्र देकर जनमोर्चे का गठन किया। 11 अक्टूबर, 1988 को बैंगलोर में नवगठित दल जनतादल की विधिवत घोषणा कर दी गयी। इस दल का गठन जनमोर्चा, जनता पार्टी तथा लोकदल (ब) के विलय से हुआ। इस दल का गठन से पूर्व राष्ट्रीय मोर्चा तथा जनमोर्चा का पारस्परिक गठबन्धन हो चुका था। विश्वनाथ प्रताप सिंह को राष्ट्रीय मोर्चा संसदीय दल का नेता निर्वाचित किया गया। उन्हीं के नेतृत्व में केन्द्र में दूसरी गठबंधन अथवा मिली–जुली सरकार का गठन हुआ। भारतीय जनता पार्टी तथा वामपंथी दलों ने राष्ट्रीय मोर्चा सरकार को सरकार से बाहर रहकर अपना समर्थन दिया। किन्तु किन्हीं कारणों वश 23 अक्टूबर, 1990 को प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। चन्द्रशेखर के नेतृत्व में नई सरकार बनी, जिसे कांग्रेस ने समर्थन दिया, परन्तु इसका भी पतन हो गया।

कांग्रेस की अल्पमत सरकार– सन् 1991 के मई–जून माह में हुये लोकसभा के मध्यावधि चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु कांग्रेस (इ) को लोकसभा में सबसे अधिक सीटें प्राप्त हुई, अतः कांग्रेस ने अपनी अल्पमत सरकार का गठन किया। इस प्रकार सन् 1996 ई. तक कांग्रेस केन्द्र में सत्ता में रही।

(6) संयुक्त मोर्चा सरकार (सन् 1996 ई.)– तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने 16 मई, 1996 ई. को लोकसभा के सबसे बड़े राजनीतिक दल भारतीय जनता पार्टी को केन्द्र में सरकार बनाने को आमंत्रित किया। 16 मई, 1996 ई. को भारतीय जनता पार्टी ने अपने सहयोगी दलों समता पार्टी, अकाली दल, शिवसेना तथा हरियाणा विकास पार्टी के सहयोग से केन्द्र में मिली जुली सरकार का गठन किया, किन्तु इससे पूर्व 11 मई, 1996 ई. को 11 राजनीतिक दलों– जनतादल, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, अखिल भारतीय इन्दिरा कांग्रेस (तिवारी), द्रविड मुनेत्र कड़गम (डी.एम. के.), तमिल मनीला कांग्रेस, समाजवादी, मध्य प्रदेश कांग्रेस, मस्लिम लीग और जनता पार्टी ने मिलकर संयुक्त मोर्चे का गठन कर लिया। 19 मई, 1996 को इस मोर्चे में असम गण परिषद तथा तेलगू देशम पार्टी भी सम्मिलित हो गयी। इस प्रकार 13 राजनीतिक दलों के सहयोग से संयुक्त मोर्चे का गठन किया गया। इस नवगठित संयुक्त मोर्चे के नेतृत्व का दायित्व एच.डी. देवेगौड़ा को सौंपा गया।

जून, 1996 में एच. डी. देवगौड़ा के नेतृत्व में केन्द्र में संयुक्त मोर्चे की मिली जुली सरकार का गठन हुआ। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के इतिहास में पहली बार भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी केन्द्रीय मंत्रिमंडल में सम्मिलित हुई।

किन्तु संयुक्त मोर्चे की सरकार स्थायी न रह सकी तथा इसके अस्तित्व पर सदैव खतरे के बादल मंडराते रहे। संयुक्त मोर्चे की सरकार को पहले कांग्रेस पार्टी द्वारा बनाये गये दबाव के आगे झुकना पड़ा तथा नेतृत्व में परिवर्तन करना पड़ा। किन्तु बाद में 28 नवम्बर, 1997 ई. को कांग्रेस पार्टी द्वारा संयुक्त मोर्चे की सरकार से समर्थन वापस ले लेने के कारण संयुक्त मोर्चा सरकार का पतन हो गया। इस प्रकार निरन्तर अस्थायित्व से जूझने वाली मोर्चा सरकार मात्र 18 महीने ही चल सकी।

सन् 1887 के फरवरी–मार्च महीने में बारहवीं लोकसभा के लिये चुनाव हुये। इन चुनावों में भी किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाया। भारतीय जनता पार्टी 180 और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मात्र 142 सीटों पर सिमट कर रह गयी। एक बार पुनः क्षेत्रीय दलों का महत्व उभरकर सामने आया और सरकार के गठन में उनके सहयोग की आवश्यकता अनुभव की गयी। भारतीय जनता पार्टी ने 17 अन्य राजनैतिक दलों के सहयोग से अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में केन्द्र सरकार का गठन किया। किन्तु सहयोगी दलों के कारण यह सरकार स्थायी नहीं रह सकी। अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार को मात्र एक वोट से पराजित होना पड़ा। बारहवीं लोकसभा मात्र 13 महीने तक अपना अस्तित्व बनाये रख सकी।

सन् 1999 के सितम्बर–अक्टूबर माह में तेरहवीं लोकभा के चुनाव सम्पन्न हुये। इस चुनाव में भी कोई एक राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में गठित राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन (राजग) ने किसी तरह बहुमत जुटा लिया। 24 राजनैतिक दलों के सहयोग से मिलकर गठित राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन के 70 सदस्यीय मंत्रिमंडल ने अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार ने अनेक व्यवधानों के साथ 13 अक्टूबर, 2003 को अपने पाँच वर्ष पूर्ण किये।

सन् 2004 के अप्रैल–मई माह में चौदहवीं लोकसभा के चुनाव हुये। इन चुनावों में भी किसी राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। कांग्रेस ने अन्य 20 राजनैतिक दलों की सहायता से सन् 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) की मिली–जुली सरकार का गठन किया और देश के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. मनमोहन सिंह को प्रधानमंत्री पद पर बैठाया।

पन्द्रहवीं लोकसभा के चुनाव अप्रैल–मई 2009 में हुये चुनावों में एक बार फिर संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन ने केन्द्र में सत्ता प्राप्त की।

अन्ततः उपर्युक्त स्थितियों को दृष्टिगत रखते हुये इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारत जैसे देश में जहाँ प्रत्येक राजनीतिक दल के अपने–अपने स्वार्थ हैं, वहाँ मिली–जुली सरकारों अथवा गठबंधन सरकार का सफल होना किसी भी दशा में संभव नहीं है।

प्रश्न–4. भारतीय दल–पद्धति में वर्तमान में विकसित गठबन्धन और पुनर्गठबन्धन की राजनीति का संक्षेप में आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

'भारत में मिली–जुली सरकारों की असफलता का मूल कारण उनके सिद्धान्तहीन समझौते थे अथवा कांग्रेस दल के शासन के विरुद्ध उनका अन्ध विरोध।' इस कथन के सम्बन्ध में टिप्पणी कीजिये।

अथवा

कहा जाता है कि 'अब संघ सरकार (केन्द्र) में भी मिली–जुली सरकारों का युग है। एकल दलीय सरकार का युग समाप्त हो गया' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

उत्तर– लेखक डॉ. एन. के. श्रीवास्तव का मत है कि भारतीय लोकतंत्र और संसदात्मक शास–प्रणाली प्रयोगावस्था में है। यद्यपि भारत के राजनीतिज्ञ भी प्रारम्भ से ही भारत में ब्रिटेन और संयुक्त–राज्य अमेरिका की तरह आदर्श द्विदलीय व्यवस्था स्थापित करना चाहते रहे हैं परन्तु चाहने से क्या होता है? स्वतंत्रता के बाद भारत के भाग्य में बहुदलीयता या दलों का दलदल ही लिखा था। इसलिये भारत में ध्रुवीकरण होकर द्विदलीय व्यवस्था का विकास इसके लिये प्रारम्भिक सत्तारूढ़ कांग्रेस भी दोषी है और भारतीय राजनीति का घटिया विकास भी उत्तरदायी है। प्रारम्भ से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नियत खराब थी। वह राष्ट्रीय आन्दोलन काल में अर्जित लोकप्रियता का लाभ स्वयं लेना चाहती थी अतः उसने गान्धी जी के कांग्रेस के लोकसेवा दल के सुझाव को नहीं माना और जब तक पंडित जवाहरलाल नेहरू रहे, उन्होंने दूसरे दलों की विशेषताओं को हड़प कर कांग्रेस का एकाधिकार बनाये रखने का सफल प्रयास किया। डॉ. एन. के. श्रीवास्तव का मत है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस का समाजवादी कार्यक्रम हड़पकर साम्यवादी बना दिया और साम्यबाद को भी सीमित क्षेत्रों में ही पनपने के लिये विवश कर दिया। धर्म–निरपेक्षता का तुष्टिकरण का लबादा ओढ़कर नवविकसित जनसंघ को दक्षिण–पन्थी दल के रूप में नहीं पनपने दिया और जमीदारों व राजाओं के दल स्वतंत्र पार्टी की भ्रूण–हत्या कर इन भूतपूर्व सामन्तों को कांग्रेस और अन्य दक्षिण–पन्थी दलों में घुसपैठ करने का अवसर दिया।

जयप्रकाश, लोहिया और अन्य महान लोकतांत्रिक समाजवादियों के जुझारू तेवरों को भी उपयुक्त चेतना या मार्ग नहीं मिला और डॉ. लोहिया को 1967 में गैर–कांग्रेसवाद का नेतृत्वकर भारतीय राज्यों में गठबन्धन की राजनीति को बढ़ावा देने के लिये विवश होना पड़ा। यही कार्य 1974 से 1977 तक महान् जयप्रकाश नारायण को केन्द्र में करके कांग्रेस को चुनौती देनी पड़ी।

डॉ. एन. के. श्रीवास्तव का विश्लेषण अपनी जगह बिल्कुल सटीक है और नेहरू के बाद कांग्रेसवाद और कांग्रेसवादी प्रयासों का ही परिणाम पहिले राज्यों में और अब केन्द्र में मिली–जुली सरकारों या गठबंधन पुनर्गठबन्धन की राजनीतिक विडम्बना या परिणयोक्ति इसी की देन है।

भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि कांग्रेस ने अपने रूपों को बदल–बदल कर बार–बार अपने सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में परिवर्तन तथा दूसरों की नीतियों या कार्यक्रम को हड़पकर

अपने आपको सदैव सत्ता में बनाये रखने का प्रयास किया। नेहरू के बाद उनकी पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी एक सशक्त नेता की छवि लेकर बहुत दिनों तक नेहरूवाद को अवश्य जीवित बनाये रखने का अर्द्ध सफल प्रयास में लगी रहीं परन्तु नेहरू के दोहित्र राजीव गान्धी ने तो अपने नानाजी के सिद्धान्तों और कार्यक्रमों का पूर्ण परित्याग कर दक्षिणपन्थी राजनीतिक कार्यक्रम को ही अपना कार्यक्रम बना डाला था।

इसके बाद गैर-कांग्रेसवादी मुहिम के सामने सिद्धान्तहीन गठबन्धन, पुनर्गठबन्धन तथा मिली-जुली सरकारों के पहिले राज्यों मे फिर केन्द्र में प्रयोग को लागू करने के अलावा और भला रास्ता भी क्या बचा था? अब भले शिमला मन्थन (2003) के बाद कांग्रेस यह घोषित करे कि वह भी गठबन्धनों के लिये तैयार है, उसमें भी भारतीय जनता पार्टी की तरह गठबन्धनों की क्षमता है। न उस पर वे क्षेत्रीय दल विश्वास करने को तैयार हैं, जिनकी अपने-अपने राज्य में कांग्रेस से प्रतिस्पर्धा है? फिर क्या कांग्रेस प्रधानमंत्री पद का लोभ छोड़ने को प्रस्तुत है? सदैव करिश्माई नेतृत्व के बल पर सत्ता पर काबिज होने का स्वप्न देखने वाली भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अभी भी इस भ्रम में है कि श्रीमती सोनिया गान्धी का नेतृत्व उन्हें उबार लेगा जबकि सत्य यह है कि लोग उन्हें देखने और उनके रोमन में लिखे अटपटे हिन्दी भाषण सुनने तो चले आते हैं परन्तु उनके व्यक्तित्व में इन्दिरा गाँधी और नेहरू जैसा जादू तो छोड़िये राजीव गान्धी के नौसिखिया होते हुये भी उनकी 1984 की स्वच्छ और कोरी स्लेट छवि भी नहीं है। भले ही उनके विदेशी होने का मुद्दा उतना प्रभावशाली नहीं है परन्तु भारत के भावी प्रधानमंत्री को 30 वर्ष में हिन्दी इतनी तो आ ही जाना चाहिये कि वे हिन्दी प्रदेशों में लोगों की बात को सुन और ठीक से समझ सकें। फिर इस सत्योक्ति को राजनीति विज्ञान का विद्यार्थी तो भली-भांति जानता है कि कांग्रेस में गठबन्धन करने और निभाने की वह क्षमता नहीं है जो उसके प्रतिपक्षी में है।

भारत में राज्य-स्तर की मिली-जुली सरकारों की विशेषतायें और राजनीतिक व्यवस्था पर इनका प्रभाव- इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

(1) ये गैर-कांग्रेसवाद पर आधारित सरकारों का मिश्रित (सफल-असफल) प्रयोग था।

(2) सरकारी भागीदारों में वैचारिक एकता का अभाव था।

(3) इससे मन्त्रिमण्डल और मुख्यमंत्री की प्रतिष्ठा का ह्रास हुआ।

(4) संसदीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण जमकर हुये।

(5) भागीदार दलों के बीच मतभेद और तनाव भी देखने को मिले।

(7) इस काल में केन्द्र-राज्य मतभेद और तनाव देखने को मिले।

(8) राजनीतिक स्थायित्व।

केन्द्र में मिली-जुली सरकारों का धीरे-धीरे सफलता की ओर बढ़ता प्रयोग- पहिले भारत की जनता ने मतदान-व्यवहार द्वारा मिली-जुली गठबन्धन सरकारों का प्रयोग राज्यों में किया। 1977 में भी भारत की जनता ने जनता पार्टी को तभी सत्तारूढ़ किया, जब उसने मिल-जुलकर जनता पार्टी बना ली थी, परन्तु 1977 से 1979 तक इसने सरकार में एक दल की तरह व्यवहार न करके कर आपस में जूतम-पैजार किया, तब 1980 में

भारत की जनता ने पुनः श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस को सत्ता सौंप दी थी। 1984 में भी भारत की जनता ने श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी की मृत्यु के बाद एक दल को ही केन्द्र की सत्ता सौंपी थी परन्तु राजीव गाँधी 1985 से 1989 तक जनता की कसौटी पर खरे नहीं उतरे अतः 1989 में जनता ने केन्द्र में भी मिली- जुली सरकार का प्रयोग शुरू किया। यद्यपि संकुचित राजनीति कर भारतीय जनता पार्टी ने राम मन्दिर के नाम पर 2 से 100 की ओर बढ़ने के लिये प्रयास शुरू किया था, क्योंकि उसका यह विचार सही भी हो सकता है कि प्रेम और राजनीति में सब कुछ जायज है परन्तु इस खेल को मण्डलवाद के नाम पर भारतीय राजनीति को जाति युद्ध की भावी आग में झोंकने का दोष हम विश्वनाथ प्रताप सिंह को दें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी, क्योंकि मण्डल के नाम आरक्षण देकर उन्होंने 1989 से 91 तक भारत में सम्प्रदायवाद तो था ही जातिवाद को चरम तक पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस के बाद 1991 से 1996 तक यद्यपि जनता ने एक बार फिर भारत में एक दल को पर्याप्त शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया परन्तु 1996 के बाद जो केन्द्र में गठबन्धन और मिली-जुली सरकारों का दौर शुरू हुआ है, उसका अन्त क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। यद्यपि इतना तो तय है कि अब निकट भविष्य में केन्द्र में किसी एक राजनीतिक दल की सरकार बनने के अवसर बहुत कम प्रतीत हो रहे हैं। इसके कारण निम्नलिखित हैं-

(1) **कांग्रेस का पतन-** एक अखिल भारतीय राजनीतिक दल के रूप में कांग्रेस का पतन हो चुका है यद्यपि इसकी जड़ें अभी सम्पूर्ण भारत में हैं परन्तु अब ये सम्पूर्ण भारत में कहीं अजेय राजनीतिक दल नहीं है। न इसके पास कोई अखिल भारतीय स्तर का ऐसा नेता है जो इसे पूर्व स्थिति दिला सके। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण सामूहिक नेतृत्व कांग्रेस में विकसित होने नहीं पाया। नेहरू परिवार का मोह तो आज तक मौजूद है परन्तु नेहरू परिवार में भी ऐसे करिश्माई नेतृत्व का अभाव है।

(2) कांग्रेस अपना परम्परागत वोट बैंक (हरिजन, मुस्लिम तथा पिछड़ा वर्ग) खो चुका है। सवर्ण भी अब उससे कटते जा रहे हैं और आधे से भी कम सवर्ण कांग्रेस को जाति के आधार पर कभी-कभी वोट भले ही दे दें।

(3) कांग्रेस गठबन्धन की राजनीति में सफल नहीं हो पाता, क्योंकि गठबन्धन के लिये कुछ क्षेत्रीय कांग्रेस के अपने राज्य में परम्परागत प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण वे भला कैसे तैयार हो सकते हैं?

(4) मुलायम सिंह जी स्वयं प्रधानमंत्री बनने का स्वप्न देखने के कारण कांग्रेस का साथ बड़ी मुश्किल से ही देने को तैयार होते हैं।

(5) तमिलनाडु में कांग्रेस को कभी अन्ना डी. एम. के. का साथ लेना पड़ता है तो कभी करुणाकरण की डी. एम. के. का।

(6) केरल और पश्चिमी बंगाल कम्युनिस्ट पार्टी के लगभग स्थाई गढ़ बन चुके हैं।

उपरोक्त कारणों से हम देखते हैं कि भारत में क्षेत्रवादी राजनीति की भावना प्रबल तथा गैर-कांग्रेसवाद के पनपने के कारण ही मिली-जुली सरकारों और केन्द्र में भी गठबन्धन का

युग आना अपरिहार्य हो गया है और वर्तमान परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार की हैं कि ये गठबन्धन की राजनीति को कांग्रेस ने भी स्वीकार कर लिया है और 14वीं लोकसभा में मनमोहन सिंह संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार के ही प्रधानमंत्री भी हैं। अब गठबंधन युग को सबने स्वीकार कर लिया है।

प्रश्न–5. भारत में साझा सरकारों की राजनीति का मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

'भारत में गठबन्धन सरकारों की राजनीति' पर विस्तृत लेख लिखिये।

उत्तर– लोकतंत्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि इसमें जनता द्वारा चुनी हुई सरकार ही शासन चला सकती है। लोकतंत्रात्मक प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक आम निर्वाचन के बाद राज्य का संवैधानिक प्रमुख चुने हुये जन-प्रतिनिधियो के बहुमत प्राप्त दल के नेता को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित करता है। चूंकि लोकतंत्र में चुनाव दलीय आधार पर होते हैं अतः ऐसी आशा की जाती है जनता किसी एक दल को उसके एजेण्डे और कार्यक्रम को ध्यान में रखकर स्पष्ट बहुमत दे तो उसकी सरकार को जनता का स्पष्ट बहुमत या समर्थन मिला है ऐसा माना जाता है और उसी दल की सरकार बनती है। यह एक सुसंगठित सजातीय सरकार मानी जाती है जो दलीय अनुशासन के कारण निर्वाचित विधायिका की पूर्ण अवधि के लिये सरकार बनाकर चलाती है।

ब्रिटिश मंत्री–मंडलात्मक सरकार का यह प्रमुख लक्षण है। ब्रिटेन में द्विदलीय प्रणाली है अतः वहां किसी न किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो ही जाता है परन्तु भारत जैसे देशों में जहां बहुदलीय प्रणाली है यह संभव है कि किसी निर्वाचन में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले। ब्रिटेन जैसे संसदात्मक शासन–प्रणाली वाले किसी देश की संसद में यदि किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तो फिर दो ही रास्ते रह जाते हैं एक तो यह कि वहां दुबारा चुनाव कराये जायें या फिर संयुक्त कई राजनीतिक दलों की मिली–जुली साझा सरकार बनाई जाये। पहले विकल्प को अपनाने का एक खतरा फिर भी शेष रह जाता है कि यदि दुबारा निर्वाचन कराये जायें फिर भी चुनाव परिणाम में किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले तो फिर क्या होगा क्योंकि मतदाताओं का क्या भरोसा फिर वह किसी दल को स्पष्ट बहुमत न दे सका। ऐसी हालत में क्या क्या बार–बार चुनाव कराये जायेंगे। किसी भी धनी से धनी राष्ट्र में ऐसा बार–बार चुनाव कराये जाना संभव नहीं है। तब फिर एक ही रास्ता बचता है और वह है एक साझा सरकार बनाना। ऐसी स्थिति में राष्ट्र (राज्य) का संवैधानिक प्रमुख चुने गये राजनीतिक दल को एक समझौता कर साझा सरकार बनाने का अवसर देता है। भारत में भी 1989 के बाद कई बार ऐसे अवसर आये हैं। 1991 में यद्यपि प्रधानमंत्री नरसिंह राव के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार बनी परन्तु उसके सम्बन्ध में सत्यता यह है कि कांग्रेस को अपना बहुमत सिद्ध करने के लिये यह आरोप है कि उसने झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सदस्यों को खरीदा था। राजीव गांधी की एक दलीय कांग्रेस सरकार के बाद ऐसी स्थितियां भारत की राजनीति में केन्द्रीय सरकार के मामले में भी बनने लगी थीं जबकि किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिला। इसीलिये भारत के एक पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमन को यह कहना पड़ा था कि एक दलीय सरकारों का युग अब लद गया। अब भविष्य साझा सरकारों का ही है। वास्तव में

1996, 1998 तथा 1999 में ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई। वर्तमान सरकारें निरन्तर साझा या खिचड़ी सरकार जो कभी 11, कभी 12, कभी 18 दलों से मिलकर बनती-बिगड़ती हैं।

विभिन्न राजनीतिक दलों की मिली–जुली सरकारों को साझा सरकार कहा जाता है। 1967 के गैर कांग्रेस युग के बाद राज्यों में साझा सरकार बनने का युग 1989 से भारत की संघीय सरकार के सम्बन्ध में शुरू हो गया है।

साझा या गठबन्धन सरकारों के प्रचलन के लिये उत्तरदायी तत्व– भारत में साझा सरकारों के निर्माण के लिये निम्नलिखित राजनीतिक तत्व उत्तरदायी हैं–

(1) **अखिल भारतीय दल कांग्रेस का पतन**– 1967 तक अधिकांश राज्यों और केन्द्र में भारत का एकमात्र अखिल भारतीय राजनीतिक शक्तिशाली दल ऑल इण्डिया कांग्रेस था। कई बार विभाजन और टूटन के बाद भी उसका महत्व भारतीय जनता की नजर में कम नहीं हुआ। जवाहर लाल नेहरू के बाद लाल बहादुर शास्त्री तथा इन्दिरा गांधी ने इसकी प्रारम्भिक स्थिति को बनाये रखा। परन्तु जय प्रकाश नारायण की चुनौती ने इसकी जड़ें हिला दीं और इन्दिरा गांधी की मृत्यु के बाद उनके पुत्र राजीव गांधी इसकी पूर्व स्थिति (अजेयता) को बनाये नहीं रख सके। इसके बाद इसमें कोई ऐसा अखिल भारतीय स्तर का प्रभावशाली नेता नहीं बना और न ही सामूहिक शक्तिशाली नेतृत्व विकसित हो सका।

(2) कांग्रेसोत्तर कोई अन्य अखिल भारतीय ऐसा लोकप्रिय दल विकसित नहीं हो सका जो कांग्रेस का स्थान ले सके। 1977 में बनी जनता पार्टी अपने ही विरोधाभासों से बिखर गई। जनता दल यहां तक कि भारतीय जनता पार्टी भी आज तक कांग्रेस का स्थान नहीं ले सकी।

(3) **क्षेत्रीयतावाद प्रबल होना**– गैर कांग्रेसवाद तथा शक्तिशाली केन्द्र के अभाव में भारत में क्षेत्रीयतावाद पनपा इसने साझा सरकारों के युग को मजबूरी बना दिया।

(4) **जनमत**– 1980 के दशक से विकसित जनमत ने साझा सरकारों की स्थापना को भारत की मजबूरी बना दिया है।

गठबन्धन सरकारों के गुण–दोष– उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमांन काल में जब तक हम अपने संविधान को नहीं बदलते साझा सरकारें भारत की नियति बन चुकी है। इसलिये इनके गुण–दोषों का विवेचन कर हमें इनके गुण–दोष जानना आवश्यक हो गया है–

गठबन्धन सरकारों के गुण– साझा सरकार के सभी दोष नहीं है इसके कुछ गुण भी हैं निम्नलिखित हैं–

(1) छोटे–छोटे दलों की सत्ता में साझेदारी को भी यह संभव बनाती है। साझा सरकारें कभी–कभी बहुत छोटे–छोटे दलों से मिलकर बनती हैं। ये दल कभी संघ सरकार में सत्ता में आने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इनका सत्ता में साझेदार बनना केवल साझा सरकार में ही संभव हो सकता था।

(2) **केबिनेट की तानाशाही की सम्भावना नहीं–** जहां एक दल की सुस्पष्ट बहुमत वाली सरकार होती है ऐसी सरकार दलीय अनुशासन तथा अपने स्पष्ट बहुमत के कारण एक निश्चित समयावधि के लिये तानाशाह बन जाती है क्योंकि वह बहुमत के प्रति आश्वस्त होती है इसलिये कठोर निर्णय ले सकती है। इसके विपरीत गठबन्धन सरकारो को घटक दलों के मिजाज को देखकर ही निर्णय लेने होते है। इसलिये साझा सरकारें तानाशाही रवैया नही अपना पातीं।

(3) गठबन्धन सरकारों के सामने अपने अस्तित्व की गम्भीर चुनौतियां होती है इसलिये ऐसी सरकारें बड़ी सजगता से महत्वपूर्ण लोकप्रिय निर्णय लेकर बड़ी मुस्तैदी से कार्य करती है।

(4) गठबन्धन सरकारों में कर्मचारी अधिक स्वतंत्र होते हैं वे सरकार के दबाव में रहकर काम नही करते। वे निष्पक्ष और स्वतंत्र निर्णय लेते हैं।

(5) अस्थायित्व के कारण सरकार सदैव चौकन्नी रहती है।

(6) ऐसी सरकार में विधायिका का महत्व स्वभावित रूप से बढ़ जाता है क्योंकि वह विभिन्न दलों के समर्थन पर टिकी होती हैं।

गठबन्धन सरकारों के दोष– साझा सरकारों के दोष भी बहुत हैं कहा जाता है कि साझे की हाडी प्रायः चौराहे पर फूटती है और यह कब फूट जाये कहा नहीं जा सकता। इसलिये साझा सरकारों के निम्नलिखित दोष गिनाये जा सकते हैं–

(1) **अस्थायित्व–** गठबन्धन सरकारों में सबसे बड़ा दोष प्रायः अस्थायित्व होता है। ये कब टूट जाये कहा नहीं जा सकता। ये सरकारें प्रायः अस्थायी होती हैं और अस्थायी सरकारें अच्छी नहीं मानी जाती हैं–

(2) **नीतियों की अनिश्चितता–** अस्थायित्व के ही कारण गठबन्धन सरकारें अपनी स्थायी नीतियां बना कर इनको सुदृढ़ता से लागू नहीं कर पाती। प्रशासन की कुशलता की दृष्टि से नीतियों में सुनिश्चितता एक आवश्यक तत्व है।

(3) जनता पर बार–बार चुनावों का व्यय भार पड़ता है गठबन्धन सरकारें प्रायः पूरे कार्यकाल तक नहीं टिक पातीं अतः मध्यावधि चुनाव अवश्यम्भावी जाते हैं। इससे गरीब जनता को बार–बार चुनावों का भारी व्यय भार वहन करना पड़ता है।

(4) **जनता में सरकार के प्रति उदासीनता–** बार–बार सरकारें बदलने से जनता में सरकार के प्रति रुचि नहीं रहती अपितु उदासीनता उत्पन्न हो जाती है।

(5) **अनुशासन का अभाव–** गठबन्धन सरकारों में अनुशासन का पूर्ण अभाव पाया जाता है। सरकार का हर घटक दल मनमानी करता है। ऐसी सरकार की तुलना एक ऐसी गाड़ी से की जाती है जिसमें दोनों तरफ विपरीत दिशा में खींचने वाले घोड़े जुते हों। क्या ऐसा रथ या गाड़ी चल पायेगी? यही हालत गठबन्धन सरकार की होती है।

स्थिति से निवटने के लिये– ऐसी स्थिति से निबटने का एकमात्र उपाय संविधान संशोधन कर या तो अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली देश में लागू करना चाहिये या मध्यावधि चुनावों का

प्रावधान खत्म करके साझा सरकारों को पूरे समय काम करने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये। इसके लिये स्विस (स्विट्जरलैण्ड) के शासन की तरह शासन में उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के स्थान पर सहनशीलता का सिद्धान्त लागू करना चाहिये। इसमें लोक सभा में पराजित होने के बाद सरकार को त्याग–पत्र नहीं देना पडता।

प्रश्न–6. वे सामान्य मुद्दे कौनसे हैं जो भारत में केन्द्र और राज्यों के बीच विवादों का कारण बनते हैं?

अथवा

भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में प्रमुख मुद्दों और चुनौतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– भारत में राज्य की राजनीति में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के मुद्दे– भारत में केन्द्र और राज्य सम्बन्ध विभिन्न मुद्दों के कारण चल रही बहस और विवाद का विषय रहे हैं। भारतीय राज्य की राजनीति में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे निम्नलिखित हैं–

(1) **वित्तीय स्वायत्तता–** राज्य सरकारों की प्राथमिक चिन्ताओं में से एक वित्तीय संसाधनों का आवंटन है। प्रायः राज्य यह तर्क देते हैं कि केन्द्र सरकार कर राजस्व का अनुपातहीन हिस्सा अपने पास रखती है, जिससे राज्य आर्थिक रूप से केन्द्र सरकार पर निर्भर हो जाते हैं। वित्त आयोग द्वारा वित्तीय संसाधनों का वितरण तनाव का एक आवर्ती स्रोत है।

(2) **संघवाद और स्वायत्तता–** कभी–कभी राज्य अपनी स्वायत्तता का दावा करते हैं और अधिक शक्तियों की माँग करते हैं, खासकर क्षेत्रीय महत्व के क्षेत्रों में। उनका तर्क है कि स्थानीय मुद्दों को प्रभावी ढंग से सम्बोधित करने के लिए अधिक विकेन्द्रीकृत दृष्टिकोण आवश्यक है।

(3) **वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी)–** वस्तु से सेवाकर प्रणाली (जीएसटी) के लागू होने से राज्यों के बीच उनकी राजस्व स्वायत्तता को लेकर चिन्ताएँ बढ़ा दीं। जीएसटी परिषद और निर्णय लेने की प्रक्रिया पर केन्द्र सरकार का नियंत्रण कर की दरों और राजस्व बँटवारे पर विवाद का कारण बन सकता है। कर की दरों और राज्यों की मुआवजे से सम्बन्धित असहमति विवाद का स्रोत रही है।

(4) **राज्य के मामलों में हस्तक्षेप–** प्रायः राज्य इस बात पर अपनी चिन्ता प्रकट करते हैं कि वे अपने मामलों में केन्द्र सरकार का हस्तक्षेप मानते हैं। इसमें राज्यों में राष्ट्रपति शासन लगाने या स्थानीय मुद्दों पर केन्द्र सरकार के फैसले शामिल हो सकते हैं।

(5) जल विवाद– भारत में राज्यों के बीच जल बंटवारा विवाद एक सामान्य मुद्दा है। राज्य प्रायः नदी जल पर नियंत्रण को लेकर विवाद करते हैं, जिससे विवाद और मुकदमेबाजी होती है। राज्यों को कभी–कभी इस बावत् केन्द्रीय हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। मध्यप्रदेश में, खासकर पड़ोसी राज्यों के साथ नदी जल के बँटवारे पर विवाद होना बहुत ही चिन्ता का विषय है। नर्मदा, ताप्ती और चंबल जैसी नदियों के पानी के बँटवारे से संघर्ष और मुकदमेबाजी हो सकती है।

(6) **वस्तुएँ और सेवाएँ–** केन्द्र तथा राज्यों के बीच आर्थिक प्राथमिकताओं और विकासात्मक आवश्यकताओं में अन्तर टकराव का कारण बनता है। राज्य खनिज, वन तथा भूमि उपयोग जैसे प्राकृतिक संसाधनों पर अधिक नियंत्रण की माँग कर सकते हैं।

(7) **राष्ट्रीय आतंकवाद–विरोधी रणनीतियाँ–** राज्यों का तर्क यह होता है कि कानून एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी (जिसमें आतंकवाद–विरोधी प्रयास भी शामिल हैं) मुख्य रूप से उनके अधिकार क्षेत्र में आती है। फिर भी उन्हें यह लगता है कि केन्द्र सरकार की सुरक्षा एजेंसियाँ आतंकवाद विरोधी पहलों में उनके साथ पर्याप्त परामर्श या सहयोग नहीं करती हैं।

(8) **कानून और व्यवस्था–** राज्य के कानून और व्यवस्था, पुलिस और सार्वजनिक व्यवस्था पर अधिक नियंत्रण की माँग करते हैं। लेकिन केन्द्र इन क्षेत्रों में राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने के पक्ष में नहीं होता है, (जबकि कानून और व्यवस्था राज्य के अधिकार क्षेत्र में आती है)। केन्द्रीय बलों की तैनाती या सुरक्षा मामलों में केन्द्रीय एजेंसियों की भागीदारी को लेकर केन्द्र तथा राज्य में परस्पर तनाव हो सकता है।

(9) **राजनीतिक मतभेद–** राज्यों और केन्द्र सरकार की राजनीतिक सम्बद्धता केन्द्र तथा राज्य के सम्बन्धों को प्रभावित कर सकती है। जब राज्य केन्द्र से भिन्न राजनीतिक दलों द्वारा शासित होते हैं, तो इससे उनमें असहमति और राजनीतिक मतभेद पैदा हो सकते हैं।

(10) **सुरक्षा तथा सीमा विवाद–** अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं वाले राज्यों को सीमा सुरक्षा और सीमा विवादों को लेकर चिन्ता हो सकती है। इन मुद्दों पर प्रायः राज्य और केन्द्र सरकारों के बीच सहयोग की आवश्यकता होती है। अपनी भौगोलिक स्थिति को देखते हुए, मध्यप्रदेश को विशिष्ट सुरक्षा और सीमा मुद्दों का सामना करना पड़ सकता है जिसके लिए केन्द्र सरकार से सहयोग एवं समर्थन की आवश्यकता होती है। सीमा सुरक्षा तथा विवादों से जुड़े मुद्दे केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को प्रभावित कर सकते हैं।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध देश की संघीय प्रणाली का गतिशील और विकसित पहलू है। यद्यपि संविधान इन सम्बन्धों के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है, फिर भी वे बदलते राजनीतिक परिदृश्य, आर्थिक विचारों और क्षेत्रीय आकांक्षाओं से प्रभावित होते रहते हैं, जिससे केन्द्र और राज्यों के बीच निरन्तर वाद–विवाद होते रहते हैं। यद्यपि संविधान इन सम्बन्धों के लिए रूपरेखा प्रदान करता है, लेकिन वार्ताओं और परस्पर सहयोग से अनेक मुद्दों को सम्बोधित एवं हल किया जाता है।

प्रश्न–7. भारत में राज्य की राजनीति में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की प्रवृत्तियों या रुझानों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– भारत में राज्य की राजनीति में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की प्रवृत्तियाँ या रुझान– हाल के वर्षों में भारतीय राज्य की राजनीति में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में अनेक उल्लेखनीय रुझान देखे गए हैं। सहकारी संघवाद एक प्रमुख राजनीति है, जो आम चुनौतियों और नीतिगत उद्देश्यों को सम्बोधित करने हेतु केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों के बीच सहयोग पर बल देती है। राज्य आर्थिक सुधारों तथा विकेन्द्रीकरण के कारण आर्थिक विकास को बढ़ावा देने और व्यापार–अनुकूल वातावरण बनाने में अपनी अधिक सक्रिय भूमिका निभा रहे हैं। राजकोषीय

संघवाद तथा संसाधन आवंटन बहस का एक स्रोत बने हुए हैं, जिसमें राज्य केन्द्रीय निधियों में अधिक न्यायसंगत हिस्सेदारी की माँग कर रहे हैं। राज्यों के बीच जल बंटवारा विवाद, विशेषकर नदियों और बाँधों को लेकर विवादास्पद बने हुए हैं, जिसके लिए बातचीत और संघर्ष समाधान की आवश्यकता होती है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवा, स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु नीतियाँ तैयार करने जैसे क्षेत्रों में अधिक स्वायत्तता की माँग करने वाले राज्यों पर भी जोर बढ़ रहा है। केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर क्षेत्रीय दलों का प्रभाव भी बढ़ गया है। ये दल राज्य से सम्बन्धित विशिष्ट मुद्दों को प्राथमिकता दे रहे हैं। विकेन्द्रीकरण और स्थानीय शासन, सुरक्षा चिन्ताएँ और उभरते राजनीतिक गठबंधन इन सम्बन्धों को और आकार देते हैं। कुल मिलाकर, केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के रुझान केन्द्र और राज्यों के बीच एक गतिशील परस्पर क्रिया को दर्शाते हैं क्योंकि वे भारत के बदलते राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य के अनुकूल होते हैं।

भारतीय राज्य की राजनीति में विगत कुछ वर्षों में केन्द्र–राज्य सम्बन्ध विकसित हुए हैं और कई प्रमुख रुझान उभरे हैं जो केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच गतिशीलता को आकार देते हैं। ये रुझान देश के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और परिदृश्य में परिवर्तन को दर्शाते हैं।

भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में कुछ महत्वपूर्ण रुझान निम्नवत् हैं–

(1) **आर्थिक सुधार तथा उदारीकरण–** उदारीकरण ने आर्थिक सुधारों और आर्थिक नीति–निर्माण में अधिक विकेन्द्रीकृत दृष्टिकोण को जन्म दिया है। राज्यों को अनुकूल कारोबारी वातावरण बनाने हेतु प्रोत्साहित किया गया है और केन्द्र सरकार ने विनिर्माण और आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ''मेक इन इंडिया'' जैसी कई नीतियाँ आरम्भ की हैं।

(2) **सहकारी संघवाद–** हाल के वर्षों में प्रमुख रुझानों में से एक सहकारी संघवाद के प्रति दृष्टिकोण में भी बदलाव है। यह दृष्टिकोण आम चुनौतियों एवं साझा नीति उद्देश्यों को संबोधित करने हेतु केन्द्र तथा राज्यों के बीच सहयोग और समन्वय पर जोर देता है। नीति आयोग जैसे मंचों का गठन, जिसमें केन्द्र और राज्य दोनों सरकारें शामिल हैं, इस प्रवृत्ति/रुझान को दर्शाता है।

(3) **अधिक स्वायत्तता की माँग–** राज्य तेजी से अपनी स्वायत्तता पर जोर दे रहे हैं और शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और कृषि सहित विभिन्न नीति क्षेत्रों में अधिक शक्तियों की माँग कर रहे हैं। राज्यों की अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप नीतियों को तैयार करने की क्षमता पर जोर बढ़ रहा है।

(4) **जीएसटी और राजकोषीय संघवाद–** वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) की शुरूआत राजकोषीय संघवाद में एक महत्वपूर्ण विकास है। यद्यपि इसने कुछ चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। यह राज्यों और केन्द्र के बीच कराधान और राजस्व–साझाकरण तंत्र को सुव्यवस्थित करने के प्रयास को दर्शाता है।

(5) **जल विवाद**– राज्यों के बीच जल बंटवारा विवाद, खासकर नदियों तथा बाँधों को लेकर तनाव का एक स्रोत बना हुआ है। इन विवादों को सुलझाने हेतु प्रभावी तंत्र निर्माण करना जरूरी है।

(6) **संसाधन आबंटन के मुद्दे**– केन्द्रीय निधियों के वितरण, संसाधनों के आवंटन और कर राजस्व के बँटवारे पर केन्द्र तथा राज्यों के बीच विवाद एक प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। राज्य प्राय. अधिक न्यायसगत वितरण के लिए अपना तर्क देते हैं जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनके योगदान को दर्शाता है।

(7) **राजनीतिक गठबंधन और वैचारिक बदलाव**– राज्यों और केन्द्र की राजनीतिक सम्बद्धताएँ केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को प्रभावित कर सकती हैं। राजनीतिक गठबंधनों में परिवर्तन और दोनों स्तरों पर सरकारों के वैचारिक झुकाव सहयोग और विवादों की गतिशीलता को प्रभावित करते हैं।

(8) **क्षेत्रीय दलों की बढ़ती भूमिका**– क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के और उनके बढ़ते हुए प्रभाव ने केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में जटिलता बढ़ा दी है। प्रायः क्षेत्रीय दल अपने राज्यों के लिए विशेष महत्व के मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और इन क्षेत्रों में अधिक स्वायत्तता की मांग कर सकते हैं।

(9) **सुरक्षा और सीमा सम्बन्धी चिन्ताएँ**– सुरक्षा और सीमा सम्बन्धी मुद्दों, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं पर, केन्द्र और राज्यों के बीच खासकर रणनीतिक स्थानों वाले राज्यों में घनिष्ठ सहयोग की आवश्यकता होती है।

(10) **विकेन्द्रीकरण और स्थानीय शासन**– वर्तमानकाल में विकेन्द्रीकरण पर जोर बढ़ रहा है, जिसमें पंचायती राज और शहरी स्थानीय निकाय जैसी पहल शासन में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। यह प्रवृत्ति शासन को जमीनी स्तर के करीब लाने की इच्छा को दर्शाती है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ये रुझान भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की विकसित होती प्रकृति को दर्शाते हैं। जबकि संविधान इन सम्बन्धों के लिए रूपरेखा प्रदान करता है। केन्द्र और राज्यों के बीच गतिशील परस्पर क्रिया राष्ट्र की बदलती प्राथमिकताओं और आकांक्षाओं को दर्शाती है, क्योंकि यह क्षेत्रीय विविधता और विकास के साथ राष्ट्रीय एकता में सन्तुलन स्थापित करना चाहता है।

प्रश्न–8. केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में तनाव के मुख्य बिन्दु क्या हैं? वर्णन कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के मध्य तनाव व खिंचाव के कारणों का मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में कटुता आने के क्या कारण हैं?

अथवा

भारत में अब तक केन्द्र और राज्यों के बीच मतभेद और तनाव के प्रमुख मुद्दे क्या रहे हैं? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– केन्द्र व राज्यों के मध्य मतभेद और तनाव– यद्यपि भारतीय संविधान द्वारा 'सहयोगी संघवाद' के मॉडल को अपनाया गया है जो कि केन्द्र व राज्यों के मध्य सहयोग और राज्यों में परस्पर सहयोग की मान्यता पर आधारित है, परंतु फिर भी व्यवहार के अन्तर्गत केन्द्र तथा राज्यों के मध्य तनाव व खिंचाव की स्थितियाँ पनपती रहती हैं। कांग्रेस के लगातार एकछत्र नेतृत्व और पं. नेहरू के नेतृत्व के कारण 1966 तक इस प्रकार की स्थितियाँ लगभग नहीं थीं परन्तु फरवरी, 1967 के चौथे आम चुनाव के बाद भारत के लगभग आधे राज्यों में विपक्षी दल की सरकारों का उदय हुआ और केन्द्र तथा राज्यों के बीच तनाव की स्थितियों ने जन्म ले लिया। विगत् लगभग 25 वर्षों में केन्द्र तथा राज्यों के बीच तनाव की स्थितियाँ मुख्यतः निम्नलिखित कारणों से व विषयों से निर्मित हुई हैं–

(1) **राज्यपाल का पद और उसकी भूमिका**– राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और वह राष्ट्रपति की इच्छा पर्यन्त पद पर रहता है। भारतीय संविधान ने राज्यपाल को दोहरी भूमिका दी है। एक ओर वह राज्य का संवैधानिक प्रधान है, दूसरी ओर राज्य में केन्द्र सरकार का एजेण्ट है। व्यावहारिक तौर पर जब कभी केन्द्र में एक राजनीतिक दल और राज्य–स्तर पर दूसरे राजनीतिक दल की सरकार स्थापित हुई तो अधिकांश उदाहरणों में राज्यपाल पदधारी व्यक्ति ने इस बात को भुला दिया कि वह संवैधानिक प्रधान है। उसने केन्द्र के शासक की भूमिका निभाते हुये कठपुतली के समान आचरण किया। ऐसी परिस्थिति में विपक्षी सरकारों द्वारा राज्यपाल को 'राज्य सरकार गिराने के लिये केन्द्र के कथित षड्यन्त्र के यन्त्र' के रूप में देखा जाता है।

(2) **राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की व्यवस्था**– संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार, यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल के प्रतिवेदन या अन्य किसी प्रकार से समाधान हो कि राज्य का शासन उन परिस्थितियों में संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो संकटकाल की घोषणा कर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है परंतु संविधान निर्माताओं ने जिसे 'अभय दीप' (Safety-Valve) समझा था, विपक्षी दलों की राज्य सरकारों को उखाड़ फेंकने का साधन बना लिया गया। अब तक 85 से अधिक बार अनुच्छेद 356 का उपयोग किया जा चुका है। अतः अनुच्छेद 356 के प्रयोग में अत्यंत सावधानी व संयम बरतने की आवश्यकता है।

(3) **अखिल भारतीय सेवाओं की व्यवस्था**– अखिल भारतीय सेवाओं के अन्तर्गत मुख्य रूप से 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' और 'भारतीय पुलिस सेवा' आती है। इन सेवाओं के पदाधिकारी राज्य सरकारों के उच्च–पदों पर आसीन होते हैं। परन्तु राज्य व केन्द्र के बीच यह एक विवाद का मुद्दा बना रहता है कि राज्य सरकारें अनेक बार यह शिकायत करती हैं कि अखिल भारतीय सेवाओं के ये पदाधिकारी राज्य सरकार के निर्देशों का ठीक ढंग से सम्मान नहीं करते तथा अपने मनमाने व्यवहार से निरंकुशता का परिचय देते हैं। अतः इस स्थिति से उबरने हेतु आवश्यक है कि नौकरशाही की मनोस्थिति में परिवर्तन हो। साथ ही राज्य सरकारों की सहमति के बिना किसी नवीन अखिल भारतीय सेवा की व्यवस्था भी नहीं की जानी चाहिये।

(4) **राज्यों में सशस्त्र बल भेजना–** जब राज्य सरकार शान्ति व्यवस्था कायम रखने में असफल रहती है तो केन्द्र सरकार राज्य में सशस्त्र बल भेज सकती है। राज्य सरकारों द्वारा शिकायत की जाती है कि केन्द्र द्वारा अपनी इच्छानुसार सशस्त्र बल भेज दिया जाता है तथा इच्छानुसार ही वापस बुला लिया जाता है इससे राज्य के कार्यों में केन्द्र का अनावश्यक हस्तक्षेप होता है। अतः यह आवश्यक है कि विपक्षी दलों वाली राज्य सरकारों के साथ व्यवहार करने में केन्द्र सरकार विशेष सतर्कता बरते तथा भेदभाव की नीति का त्याग करे।

(5) **वित्तीय साधनों की सीमितता–** विगत् वर्षों में राज्य सरकारों द्वारा सतत् रूप से यह कहा जाता रहा है कि राज्य सरकारों को जनकल्याण के अनेक कार्य करने होते हैं परंतु उनके वित्तीय साधन अत्यंत सीमित हैं। अतः उन्हें सदैव ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु केन्द्र के सामने माँग प्रस्तुत करनी पड़ती है। इस प्रकार राज्य सरकारों पर केन्द्र सरकार का अनावश्यक ही नियंत्रण स्थापित हो जाता है। सातवें, आठवें तथा नौवें वित्त आयोग की अनुशंसाओं के आधार पर राज्य सरकारो के वित्तीय साधनों में कुछ बढ़ोत्तरी अवश्य की गई है। परन्तु अभी इनके वित्तीय साधनों में और वृद्धि करने की आवश्यकता है।

(6) **आपसी सम्बन्धों का संचालन राष्ट्रीय दृष्टिकोण के आधार पर–** राज्यों को विकास कार्यों में अधिकाधिक संभव सीमा तक स्वतंत्रता दी जानी चाहिये परंतु विघटनकारी तथा पृथकतावादी ताकतों को रोकना भी अतिआवश्यक है। अतः केन्द्र और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन दलीय दृष्टिकोण के आधार पर नहीं, बल्कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण के आधार पर किया जाना चाहिये। 'सरकारिया आयोग' ने अपने प्रतिवेदन में इसी बात पर बल दिया है। इसी दिशा में सन् 1990 में एक महत्वपूर्ण कार्य किया गया है वह है 'अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना।'

(7) **योजना आयोग की भूमिका–** राज्यों की शिकायत रहती है कि योजना आयोग तथा योजनाबद्ध विकास के कारण संविधान द्वारा राज्यों को दिये गये क्षेत्राधिकार से बहुत धक्का पहुँचा है जिस कारण राज्य सूची के अन्तर्गत विषयों पर भी केन्द्र सरकार को आधिपत्य स्थापित हो गया है। अतः भारत जैसे विकासशील देश हेतु योजनाबद्ध विकास किया जाना तो अत्यन्त आवश्यक है परन्तु यह भी आवश्यक है कि योजनाओं के निर्माण व क्रियान्वयन में राज्यों को अधिक प्रभावपूर्ण भूमिका प्रदान की जाये।

निष्कर्ष– इस प्रकार केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में लगातार मतभेद व विवाद उत्पन्न होते रहते हैं जिस कारण विकास प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। केन्द्र–राज्य संबंधों के सुचारू रूप से संचालन हेतु यह आवश्यक नहीं है कि संविधान में व्यापक संशोधन किये जायें अपितु केन्द्र सरकार को इस दिशा में नियंत्रण करने की आवश्यकता है व संविधान को भी सही भावना के साथ अपनाया जाये। केन्द्र–राज्य के सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में 'सरकारिया आयोग' ने जनवरी, 1988 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है तथा यह सुझाव दिया है कि केन्द्र–राज्य संबंधों के उचित संचालन के नियमों को संहिताबद्ध किया जाये ताकि केन्द्र सरकार अपनी शक्तियों का दुरूपयोग न कर सके। साथ ही दोनों में तनावपूर्ण मसलों पर शांतिपूर्ण समाधान की आवश्यकता है।

प्रश्न–9. भारत में राज्य सरकारों और केन्द्र सरकारों के बीच विवाद के बिन्दु क्या हैं?

अथवा

केन्द्र तथा राज्य सम्बन्धों के खिलाफ राज्य की राजनीति पर एक लेख लिखिए।

उत्तर– केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के खिलाफ राज्य की राजनीति– भारत में राज्य की राजनीति केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की गतिशीलता से निकटता से जुड़ी हुई है और ये सम्बन्ध भारतीय राजनीति में निरन्तर चर्चा एवं विवाद का विषय रहे हैं। भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के विरूद्ध राज्य की राजनीति का विस्तृत विवेचन निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **स्वायत्तता और संघवाद–** भारत में राज्य की राजनीति प्रायः अधिक स्वायत्तता की माँग और संघवाद के संरक्षण के आसपास ही घूमती है। अनेक राज्यों एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का तर्क है कि कभी–कभी केन्द्र सरकार उनकी शक्तियों का अतिक्रमण करती है और प्रभावी ढंग से शासन करने की उनकी क्षमता को सीमित कर देती है। ये राज्य अपने संसाधनों, नीतिगत निर्णयों और स्थानीय मुद्दों को सम्बोधित करने की क्षमता पर अधिक नियंत्रण की माँग कर सकते हैं।

(2) **शक्तियों का वितरण–** भारतीय संविधान केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों के स्पष्ट विभाजन का प्रावधान करता है। संविधान की सातवीं अनुसूची विषयों को तीन सूचियों में विभाजित करती है– संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। संघ सूची में वे विषय शामिल हैं जिन पर केवल केन्द्र सरकार का अधिकार क्षेत्र है, राज्य सूची में वे विषय हैं जिन पर केवल राज्य सरकारों का अधिकार क्षेत्र है और समवर्ती सूची में वे विषय हैं जिन पर सरकार के दोनों स्तर पर कानून बना सकते हैं। शक्तियों के इस विभाजन का उद्देश्य संघर्षों और ओवरलैप को रोकना है।

(3) **अन्तर्राज्यीय विवाद–** राज्यों के बीच सीमा विवाद, जल बँटवारा समझौते और संसाधन आवंटन राजनीतिक संघर्ष के सामान्य स्रोत हैं। इन विवादों में प्रायः मध्यस्थता करने और समाधान खोजने हेतु केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है, जिससे परस्पर तनाव और असहमति हो सकती है।

(4) **वित्त आयोग और राजकोषीय संघवाद–** भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में वित्त आयोग एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह आयोग केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच वित्तीय संसाधनों का वितरण निर्धारित करता है। राज्य प्रायः अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु संसाधनों के उचित हिस्से की वकालत करते हैं जिससे केन्द्र सरकार के साथ बातचीत विवादास्पद हो सकती है। राज्यों को धन का आवंटन जिससे सहायता अनुदान राजनीतिक चर्चा का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है।

(5) **संवैधानिक प्रावधान–** भारतीय संविधान में ऐसे प्रावधान हैं जो केन्द्र सरकार को कुछ स्थितियों में राज्यों पर अपना अधिकार जताने की अनुमति देते हैं, जैसेकि– राष्ट्रपति शासन, जिसे विशिष्ट परिस्थितियों में किसी राज्य में लगाया जा सकता है। ऐसे तंत्रों का उपयोग एक विवादास्पद राजनीतिक मुद्दा हो सकता है जिससे केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के सन्दर्भ में प्रायः इस पर बहस होती है।

(6) **क्षेत्रीय दलों की भूमिका–** राज्य की राजनीति उन क्षेत्रीय दलों से अत्यधिक प्रभावित होती है जिनका क्षेत्रीय मुद्दों और पहचान पर अधिक ध्यान होता है। ये दल प्राय: राज्य की राजनीति को आकार देने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और कभी-कभी अपने हितों के आधार पर केन्द्र सरकार के साथ या उसके खिलाफ गठबंधन करते हैं।

(7) **सहकारी संघवाद–** भारत में सहकारी संघवाद मॉडल समय-समय पर होने वाले संघर्षों के बावजूद केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करता है। यह दृष्टिकोण आर्थिक विकास, बुनियादी ढाँचे और सामाजिक कल्याण जैसे क्षेत्रों में संवाद, समन्वय और संयुक्त प्रयासों को बढ़ावा देना चाहता है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में राज्य की राजनीति केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की गतिशीलता के साथ मजबूती से जुड़ी हुई है। शक्तियों का विभाजन, संसाधन आवंटन और संघवाद से सम्बन्धित मुद्दे चल रहे राजनीतिक चर्चाओं तथा बातचीत के विषय हैं। राज्य की स्वायत्तता और केन्द्रीय सत्ता के बीच सन्तुलन भारतीय राजनीति में एक केन्द्रीय विषय बना हुआ है और ये चर्चाएँ देश के शासन और नीति निर्धारण का अभिन्न अंग है।

प्रश्न–10. भारतीय संघ में केंद्र व राज्य के वित्तीय सम्बन्धों पर एक लेख लिखिये।

अथवा

भारतीय संघ में केन्द्र व राज्य के विधायी–सम्बन्धों का परीक्षण कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र व राज्यों के मध्य विधायी प्रशासनिक और वित्तीय–सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र (संघ सरकार) एवं राज्य सरकारों के बीच सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त लेख या निबन्ध लिखिये।

उत्तर– भारत एक संघात्मक शासन-प्रणाली वाला राज्य है। संघात्मक शासन प्रणाली वाले राज्यों में दो प्रकार की सरकारें होती हैं– (1) संघ सरकार (इसे केन्द्र सरकार भी कहते हैं) (2) राज्य सरकारें।

संविधान द्वारा उपरोक्त प्रकार की सरकारों के कार्य-क्षेत्र के निर्धारण हेतु उन्हें पृथक पृथक सूचियाँ बनाकर उनका कार्य-क्षेत्र एवं अधिकार-क्षेत्र निश्चित कर विवाद के अवसरों को न्यूनतम करने का प्रयास किया गया है। एक समवर्ती सूची है, जिस पर केन्द्र और राज्य दोनों कानून बना सकती है, तथा शासन व प्रशासन कर सकती है परन्तु वरीयता केन्द्र (संघ) सरकार को प्रदान की गई है। संविधान में यह प्रावधान है कि किसी समवर्ती सूची के विषय पर केन्द्र व राज्य के बीच परस्पर विरोध हो तो केन्द्र का कानून वैध होगा।

तत्कालीन परिस्थितियों (स्वतंत्रता) के तुरन्त बाद भारत में एक ऐसा संविधान बनाया गया था, जिसमें संघ सरकार अर्थात् केन्द्र को शक्तिशाली बनाया गया है। परन्तु क्या आज भी

केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाये रखने की आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में लेखक डॉ. एन. के. श्रीवास्तव ने अपने एक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि 1947-50 से अब परिस्थितियां बहुत बदल गई है। आज केन्द्र में मिली जुली सरकारों का युग है, जो क्षेत्रीय दलों की क्षेत्रीय सरकारों की वैसाखियों पर फिलहाल चल तो रही है। निकट भविष्य में भी केन्द्र में शक्तिशाली सरकार की संभावना नहीं है। भारत में क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद भारतीय राजनीति पर बुरी तरह हावी होता जा रहा है। क्षेत्रवाद जब बहुत अधिक सक्रिय और उग्र हो जाता है, तो पृथकतावाद की मांग उठने और पनपने लगती है। इससे बचने के दो ही उपाय है या तो छोटे-छोटे राज्य बनाये जायें। इन क्षेत्रों की मांगों की अनदेखी या अवहेलना न की जाये और उन्हें अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये। कश्मीर की स्वायत्ता की मांग को हम भले ही भारत-पाक सम्बन्ध से जोड़कर राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से उसे स्वायत्तता देने में आनाकानी करें, परन्तु स्वायत्ता तो प्रत्येक राज्य की मांग है। दक्षिण और पूर्वी भारत के राज्यों में यदि अधिक स्वायत्तता या पृथकतावाद की मांग जोर पकड़ ले, उससे पूर्व हमें चेतन्य होकर केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना चाहिये। अत: एक राजनीति विज्ञान के छात्र के लिये वर्तमान केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का मूल्यांकन करना आवश्यक है।

वर्तमान में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) विधायी सम्बन्ध।

(2) प्रशासनिक या कार्यपालिका सम्बन्धी सम्बन्ध।

(3) वित्तीय सम्बन्ध।

विधायी सम्बन्ध– विधायी सम्बन्धों को हम संवैधानिक सम्बन्ध भी कह सकते हैं। इनकी व्याख्या भारत के संविधान में स्पष्ट प्रावधान करते हुये पृथक-पृथक संघ-सूची व राज्य-सूची बनाकर की गई है। परन्तु इसमें भी व्यवहारिक दृष्टि में केन्द्र को वरीयता देना कहाँ तक उचित है, विचारणीय है। केन्द्र और राज्य के सम्बन्ध में विधायी विवाद उत्पन्न हो सकते हैं, यद्यपि उनके निराकरण के लिये सर्वोच्च न्यायालय है, परन्तु केन्द्र सरकार के पास विवाद के ऐसे कई अवसर आते हैं जहाँ केन्द्र राज्य पर हावी हो सकता है। केन्द्र और राज्य के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध तभी तक ठीक ठाक रहते हैं, जब तक कि केन्द्र और राज्यों में एक ही दल की सरकारें हों। विपरीत सरकारें होने पर टकराव होना स्वभाविक है। ऐसी स्थिति में संविधान और न्यायपालिका भी विशेष कुछ नहीं कर पाती क्योंकि राज्यपाल केन्द्र का एजेन्ट होता है और संविधान की धारा 356 का दुरुपयोग राज्य सरकारों की स्थिति को विधायी दृष्टि से गौण बना देता है। इस सम्बन्ध में पर्याप्त सकारात्मक व्यवस्था की जाना चाहिये जिससे इस धारा का दुरुपयोग न हो सके। संसद को राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार भी प्राप्त है (कुछ थोड़ी सी औपचारिकता के बाद)। अत: इस सम्बन्ध में संवैधानिक प्रावधानों पर पुर्नविचार की आवश्यकता है।

(ब) **प्रशासनिक और कार्यपालिकीय सम्बन्ध–** भारत में प्रशासन केन्द्रीयकृत है और कार्यपालिका भी केन्द्रीयकृत जैसी ही है, क्योंकि राज्यपाल तो केन्द्र का एजेन्ट होता है या उसकी हालत तमिलनाडु की राज्यपाल कठिपपा जैसी होती है। यदि केन्द्र और राज्य में एक ही

दल की सरकार हो तो मुख्यमंत्री क्षेत्रीय सूबेदार होता है। यदि वह केन्द्र के विरोधी दल का शासक है तो उसे अपने राज्य को सहूलियते दिलाने के लिये केन्द्र से तालमेल बनाने के लिये कौटिल्य जैसी नीति अपनानी पड़ती है, कभी विग्रह कभी सन्धि। क्योंकि वर्तमान संविधान में कार्यपालिका की शक्ति का केन्द्रीयकरण है और राज्यों की स्थिति स्थानीय संस्थाओं से कुछ ही अच्छी कही जा सकती है।

संविधानशास्त्री डी.डी. बसु का मत है कि 'संघीय व्यवस्था की सफलता और दृढ़ता संघ की विविध सरकारों के बीच अधिकाधिक सहयोग पर निर्भर है।' इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे संविधान निर्माताओं ने भारत में प्रशासनिक और कार्यपालिका की दृष्टि से सहकारी संघवाद स्थापित करने का प्रयास किया है। यहाँ मुख्य-मुख्य प्रशासनिक अधिकारी तो अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के होते हैं, वहीं डिप्टी कलेक्टर स्तर के अधिकारी कर्मचारी राज्य सेवा के होते हैं। अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों से मनोनुकूल कार्य करा लेना मुख्यमंत्री और उनके मंत्रिमण्डल के सदस्यों की योग्यता, क्षमता व व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। प्रायः अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी इन प्रादेशिक राजनेताओं के सामने झुकते नहीं हैं परन्तु प्रादेशिक राजनेताओं के पास भी इन अखिल भारतीय सेवाओं के लोगों को परेशान करने के तमाम अवसर और उपाय होते हैं।

इसके अतिरिक्त निम्न प्रावधानों से भी केन्द्र को राज्यों पर प्रशासनिक नियंत्रण का अधिकार मिला है-

(1) संविधान के अनुच्छेद 256 एवं 257 के अन्तर्गत केन्द्र को राज्य को निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है। यह धारायें राज्य सरकारों को केन्द्र के निर्देशों के पालन के लिये दबाव डालने का अधिकार देती हैं।

(2) संविधान का अनुच्छेद 258 संघीय सरकार को यह अधिकार देती है कि वह राज्य सरकार को कुछ कार्य सौंप सकती है।

(3) अनुच्छेद 275 के द्वारा केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को अनुदान देती है। इस अनुदान के साथ कुछ शर्तें लगाई जा सकती हैं।

(4) अन्तर्राज्यीय नदियों के विवाद निबटाने का अधिकार केन्द्र सरकार को है।

(5) **अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना-** दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य विवाद को निबटाने के लिये संघ सरकार संविधान के अनुच्छेद 263 के अनुसार लोकहित की रक्षा की दृष्टि से अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना कर सकता है।

(6) **संचार साधनों की रक्षा-** समस्त भारत में संचार साधनों की रक्षा का भार केन्द्रीय (संघ) सरकार पर ही है। इस सम्बन्ध में केन्द्र सरकार आवश्यक निर्देश दे सकता है।

(7) **मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों के बीच आरोपों की जाँच का अधिकाार-** राष्ट्रपति को यदि इस प्रकार का आरोप-पत्र दिया जाता है तो इस प्रकार की जाँच केन्द्र सरकार करवा सकती है। पंजाब के मुख्यमंत्री कैरो और उड़ीसा के मुख्यमंत्री वीरेन मित्रा का मामला इसका उदाहरण है।

(8) **राज्यों में राष्ट्रीय शासन लागू करना-** यह अधिकार संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति के नाम पर केन्द्र को प्राप्त है बशर्ते उचित समयावधि में संसद के दोनों सदन इसकी पुष्टि कर दें।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भारत में प्रशासनिक कार्यपालिका की दृष्टि से केन्द्रवाद है और केन्द्र की स्थिति मजबूत है। कई क्षेत्रीय दलों वाले राज्य तो केन्द्र की इसीलिये हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। परन्तु यह स्थिति सफल संघात्मक शासन के लिये ठीक नहीं है।

वित्तीय सम्बन्ध- वित्त शासन का सबसे प्रभावशाली तत्व है। कहावत भी है कि जिसके पास वित्तीय अधिकार है उसी का अधिक महत्व होता है। यदि संविधान निर्माताओं को राज्य को वास्तविक रूप से शक्तिशाली बनाना था, तो उनकी वित्तीय स्थिति मजबूत बनानी चाहिये थी। परन्तु भारत में वित्त पर प्रधान नियंत्रण भारत की केन्द्र या संघ सरकार को दिया गया है। यद्यपि वित्तीय क्षेत्र में भी संविधान के द्वारा संघ व राज्य सरकारों के क्षेत्र अलग-अलग निर्धारित किये गये हैं। जहाँ तक संभव हो सका है, दोनों सरकारों के वित्तीय स्रोतों का भी बँटवारा करने का प्रयास किया गया है। परन्तु व्यवहार में संघ सरकार के वित्तीय स्रोत यह विचार कर अधिक रखे गये होंगे कि केन्द्र की जिम्मेदारियां अधिक हैं। इस सम्बन्ध में संविधान के प्रावधानों की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं-

(1) संघीय सरकार के पास आय के अधिक साधन उपलब्ध हैं। जैसे- आयकर, सीमा-शुल्क, उत्पादन-शुल्क, निगमकर। कम्पनियों के मूलधन पर कर, कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों पर कर।

(2) राज्य के आय के साधन भी अलग हैं। जैसे- भू-राजस्व , कृषि-आय कर कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार शुल्क, मादक वस्तुओं पर उत्पादन कर या विक्रय कर, यात्री कर, दस्तावेज शुल्क, स्टाम्प ड्यूटी आदि।

इस प्रकार के केन्द्र की आय के स्रोत अधिक हैं, राज्य के गौण हैं।

व्यय की मदें- संविधान ने व्यय की मदें भी बाँट दीं। इनमें केन्द्र की व्यय मदें- सेना, परराष्ट्र संबंध डाकतार, संचार इत्यादि व्यवस्था। राज्य की व्यय की मदे हैं- पुलिस, जेल, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि।

यहां यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि केन्द्र की आय की मदों के साथ व्यय की मदें भी महत्वपूर्ण हैं। परन्तु राज्य की व्यय की मदें अधिक खर्चीली हैं, क्योंकि ये जनकल्याणकारी हैं। यह कटु सत्य है कि राज्य सरकारों की आय कम और खर्चे ज्यादा हैं। इसलिये उन्हें केन्द्र के वित्तीय अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है और केन्द्र वित्तीय अनुदान देने में राजनीतिक (दलीय) आधार पर भेदभाव भी कर सकता है, और कभी-कभी करता भी है। संविधान द्वारा राज्य को अनुदान देने का प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 275 में है। इसमें प्रायः पिछड़े वर्गों को ऊँचा उठाने के लिये अनुदान दिये जाते हैं।

सार्वजनिक ऋण- संघीय सरकार अपनी संचित निधि की जमानत पर देश के अन्दर या बाहर से ऋण ले सकती है, परन्तु राज्य सरकारें विधानमण्डल द्वारा निर्धारित सीमा में ही

केवल देश के अन्दर ही ऋण ले सकती हैं। इस प्रावधान के कारण राज्य सरकार प्रायः वित्त के लिये केन्द्र सरकार पर निर्भर रहती है।

वित्त आयोग– भारत के संविधान के अनुच्छेद 280 में यह व्यवस्था की गई है कि प्रति 5 वर्ष बाद भारत का राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की स्थापना करेगा जो संघ और राज्यों के बीच करों के वितरण, संचित निधि से व्यय तथा वित्तीय व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों पर सिफारिश करेगा। अब तक राष्ट्रपति ग्यारह वित्त आयोग की स्थापना कर चुका है। राज्य सरकारें 1967 से ही अपने लिये अधिक वित्तीय साधनों की मांग कर रही हैं। अब तक के 10 वित्त आयोगों ने राज्य के बीच बाँटे जाने वाली रकम के दो हिस्से कर रखे थे। एक फार्मूले के आधार पर वे रकम का अधिकांश हिस्सा राज्यों में बाँट देते थे और शेष एक छोटी रकम रख ली जाती थी, जिसे आर्थिक संकट से जूझ रहे राज्यों में बाँटा जाता था।

ग्यारहवें आयोग, जिसकी स्थापना 1998 में हुई थी ने यह व्यवस्था खत्म करके केन्द्रीय करों से प्राप्त समस्त राजस्व का एक कोष बना दिया। इसमें राज्यों की हिस्सेदारी 29.5 प्रतिशत निर्धारित कर दी। यह भी सिफारिश की गई कि जनसंख्या, प्रति व्यक्ति आय, बुनियादी सुविधाओं, कर-उगाही तथा वित्तीय अनुशासन आदि के आधार पर राज्यों की हिस्सेदारी तय की जाये।

राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि आवश्यक है, इसके लिये स्वयं राज्य सरकारों को प्रयत्न करने होंगे। मितव्ययता बरत कर अपने साधनों का सदुपयोग करना होगा। अधिकांश राज्य इस बात का रोना रोते हैं कि उनके वित्त का अधिकांश भाग वेतनों में बँट जाता है। भला इसमें किसी का क्या दोष, पदों का सृजन तो उन्हीं ने किया है। उस पर आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों की नियुक्ति भी राज्य सरकारों ने ही की होगी। फिर मंत्रियों आदि के खर्चों इत्यादि पर जो फिजूलखर्च होता है उसके लिये कौन उत्तरदायी है ?

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के विषय में सरकारिया आयोग की सिफारिशें– केन्द्र–राज्य सम्बन्ध में 1987 नवम्बर में प्राप्त हुई सरकारिया आयोग की रिपोर्ट इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। इसने केन्द्र–राज्य सम्बन्ध के हर पहलू पर विचार कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इसकी सिफारिशों का सार यह है–

राज्यों को और अधिक अधिकार दिये जाने चाहिये। परन्तु इसके लिये संविधान में संशोधन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संविधान में पहले ही राज्यों की स्वायत्ता का प्रावधान है। आज स्थिति यह है कि व्यवहार में केन्द्र (संघ) सरकार राज्य सरकारों के अधिकारों को हड़प रही है। आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्र अपने आपको नियंत्रित करे और संविधान की सही भावना के अनुरूप केन्द्र–राज्यों को उपयुक्त मात्रा में स्वायत्ता प्रदान करे। केन्द्र द्वारा समवर्ती–सूची के विषयों को अपने अधिकार में लाने का कभी प्रयास नहीं करना चाहिये। सरकारिया आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के नियमों को संहिताबद्ध किया जाये जिससे केन्द्र सरकार संविधान के अनुच्छेद 356 का अनावश्यक दुरुपयोग न कर सके।

अन्तर्राज्यीय परिषद्– सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट में केन्द्र राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों को हल करने के लिये या विवाद पैदा ही न हो, ऐसी स्थिति बनाने के लिये एक अन्तर्राज्यीय परिषद् की व्यवस्था संविधान अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत करने के लिये कहा था। इसके अनुरूप 25 जून 1990 को ऐसी परिषद् की स्थापना भी कर दी गई। प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है। राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के 6 सदस्यों को सदस्य मनोनीत किया गया। सभी राज्यों के मुख्यमंत्री इसके पदेन सदस्य होते हैं। इसका एक स्थायी सचिवालय भी है। परन्तु व्यवहार में कांग्रेस सरकारों (संघीय) की प्रवृत्ति भी राज्यों की स्वायत्ता को हड़पने की रही है और गैर कांग्रेसी सरकारें भी इसी नीति पर चल रही हैं। इससे भारतीय संघवाद के सामने एक स्थायी समस्या है।

प्रश्न– 11. भारतीय संघ में केंद्र व राज्य के वित्तीय सम्बन्धों पर एक लेख लिखिये।

अथवा

भारतीय संघ में केन्द्र व राज्य के विधायी–सम्बन्धों का परीक्षण कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की विस्तृत विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र व राज्यों के मध्य विधायी प्रशासनिक और वित्तीय–सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में केन्द्र (संघ सरकार) एवं राज्य सरकारों के बीच सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त लेख या निबन्ध लिखिये।

उत्तर– भारत एक संघात्मक शासन–प्रणाली वाला राज्य है। संघात्मक शासन–प्रणाली वाले राज्यों में दो प्रकार की सरकारें होती हैं– (1) संघ सरकार (इसे केन्द्र सरकार भी कहते हैं) (2) राज्य सरकारें।

संविधान द्वारा उपरोक्त प्रकार की सरकारों के कार्य–क्षेत्र के निर्धारण हेतु उन्हें पृथक–पृथक सूचियां बनाकर उनका कार्य–क्षेत्र एवं अधिकार–क्षेत्र निश्चित कर विवाद के अवसरों को न्यूनतम करने का प्रयास किया गया है। एक समवर्ती–सूची है, जिस पर केन्द्र और राज्य दोनों कानून बना सकती है, तथा शासन व प्रशासन कर सकती है परन्तु वरीयता केन्द्र (संघ) सरकार को प्रदान की गई है। संविधान में यह प्रावधान है कि किसी समवर्ती–सूची के विषय पर केन्द्र व राज्य के बीच परस्पर विरोध हो तो केन्द्र का कानून वैध होगा।

समकालीन परिस्थितियों (स्वतंत्रता) के तुरन्त बाद भारत में एक ऐसा संविधान बनाया गया था, जिसमें संघ सरकार अर्थात् केन्द्र को शक्तिशाली बनाया गया है। परन्तु क्या आज भी केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाये रखने की आवश्यकता है ? इस सम्बन्ध में लेखक डॉ. एन. के. श्रीवास्तव ने अपने एक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि 1947-50 से अब परिस्थितियां बहुत बदल गई है। आज केन्द्र में मिली–जुली सरकारों का युग है, जो क्षेत्रीय दलों की क्षेत्रीय सरकारों की वैसाखियों पर फिलहाल चल तो रही है। निकट भविष्य में भी केन्द्र में शक्तिशाली सरकार की संभावना नहीं है। भारत में क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद भारतीय

राजनीति पर बुरी तरह हावी होता जा रहा है। क्षेत्रवाद जब बहुत अधिक सक्रिय और उग्र हो जाता है, तो पृथकतावाद की मांग उठने और पनपने लगती है। इससे बचने के दो ही उपाय हैं या तो छोटे-छोटे राज्य बनाये जायें। इन क्षेत्रों की मांगों की अनदेखी या अवहेलना न की जाये और उन्हें अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये। कश्मीर की स्वायत्ता की मांग को हम भले ही भारत पाक सम्बन्ध से जोड़कर राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से उसे स्वायत्तता देने में आनाकानी करें, परन्तु स्वायत्ता तो प्रत्येक राज्य की मांग है। दक्षिण और पूर्वी भारत के राज्यों में यदि अधिक स्वायत्तता या पृथकतावाद की मांग जोर पकड़ ले, उससे पूर्व हमें चेतन्य होकर केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना चाहिये। अतः एक राजनीति विज्ञान के छात्र के लिये वर्तमान केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का मूल्यांकन करना आवश्यक है।

वर्तमान मे केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है-

(1) विधायी सम्बन्ध।

(2) प्रशासनिक या कार्यपालिका सम्बन्धी सम्बन्ध।

(3) वित्तीय सम्बन्ध।

विधायी सम्बन्ध- विधायी सम्बन्धों को हम संवैधानिक सम्बन्ध भी कह सकते हैं। इनकी व्याख्या भारत के संविधान में स्पष्ट प्रावधान करते हुये पृथक-पृथक संघ-सूची व राज्य-सूची बनाकर की गई है। परन्तु इसमें भी व्यवहारिक दृष्टि में केन्द्र को वरीयता देना कहाँ तक उचित है, विचारणीय है। केन्द्र और राज्य के सम्बन्ध में विधायी विवाद उत्पन्न हो सकते हैं, यद्यपि उनके निराकरण के लिये सर्वोच्च न्यायालय है, परन्तु केन्द्र सरकार के पास विवाद के ऐसे कई अवसर आते हैं जहाँ केन्द्र-राज्य पर हावी हो सकता है। केन्द्र और राज्य के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध तभी तक ठीक-ठाक रहते हैं, जब तक कि केन्द्र और राज्यों में एक ही दल की सरकारें हों। विपरीत सरकारें होने पर टकराव होना स्वभाविक है। ऐसी स्थिति में संविधान और न्यायपालिका भी विशेष कुछ नहीं कर पातीं क्योंकि राज्यपाल केन्द्र का ऐजेन्ट होता है और संविधान की धारा 356 का दुरुपयोग राज्य सरकारों की स्थिति को विधायी दृष्टि से गौण बना देता है। इस सम्बन्ध में पर्याप्त सकारात्मक व्यवस्था की जाना चाहिये जिससे इस धारा का दुरूपयोग न हो सके। संसद को राज्य-सूची पर कानून बनाने का अधिकार भी प्राप्त है (कुछ थोड़ी सी औपचारिकता के बाद)। अतः इस सम्बन्ध में संवैधानिक प्रावधानों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

(ब) प्रशासनिक और कार्यपालिकीय सम्बन्ध- भारत में प्रशासन केन्द्रीयकृत है और कार्यपालिका भी केन्द्रीयकृत जैसी ही है, क्योंकि राज्यपाल तो केन्द्र का एजेन्ट होता है या उसकी हालत तमिलनाडु की राज्यपाल फातिमा जैसी होती है। यदि केन्द्र और राज्य में एक ही दल की सरकार हो तो मुख्यमंत्री क्षेत्रीय सूबेदार होता है। यदि वह केन्द्र के विरोधी दल का शासक है तो उसे अपने राज्य को सहूलियतें दिलाने के लिये केन्द्र से तालमेल बनाने के लिये कौटिल्य जैसी नीति अपनानी पड़ती है, कभी विग्रह कभी सन्धि। क्योंकि वर्तमान संविधान में कार्यपालिका की शक्ति का केन्द्रीयकरण है और राज्यों की स्थिति स्थानीय संस्थाओं से कुछ ही अच्छी कही जा सकती है।

संविधानशास्त्री **डी.डी. बसु** का मत है कि 'संघीय व्यवस्था की सफलता और दृढ़ता संघ की विविध सरकारों के बीच अधिकाधिक सहयोग पर निर्भर है।' इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे संविधान निर्माताओं ने भारत में प्रशासनिक और कार्यपालिका की दृष्टि से सहकारी संघवाद स्थापित करने का प्रयास किया है। यहाँ मुख्य-मुख्य प्रशासनिक अधिकारी तो अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा के होते हैं, वहीं डिप्टी कलेक्टर स्तर के अधिकारी कर्मचारी राज्य सेवा के होते हैं। अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों से मनोनुकूल कार्य करा लेना मुख्यमंत्री और उनके मंत्रिमण्डल के सदस्यों की योग्यता, क्षमता व व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। प्रायः अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी इन प्रादेशिक राजनेताओं के सामने झुकते नहीं हैं परन्तु प्रादेशिक राजनेताओं के पास भी इन अखिल भारतीय सेवाओं के लोगों को परेशान करने के तमाम अवसर और उपाय होते हैं।

इसके अतिरिक्त निम्न प्रावधानों से भी केन्द्र को राज्यों पर प्रशासनिक नियंत्रण का अधिकार मिला है-

(1) संविधान के अनुच्छेद 256 एवं 257 के अन्तर्गत केन्द्र को राज्य को निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है। यह धारायें राज्य सरकारों को केन्द्र के निर्देशों के पालन के लिये दबाव डालने का अधिकार देती हैं।

(2) संविधान का अनुच्छेद 258 संघीय सरकार को यह अधिकार देती है कि वह राज्य सरकार को कुछ कार्य सौंप सकती है।

(3) अनुच्छेद 275 के द्वारा केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को अनुदान देती है। इस अनुदान के साथ कुछ शर्तें लगाई जा सकती हैं।

(4) अन्तर्राज्यीय नदियों के विवाद निबटाने का अधिकार केन्द्र सरकार को है।

(5) **अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना-** दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य विवाद को निबटाने के लिये संघ सरकार संविधान के अनुच्छेद 263 के अनुसार लोकहित की रक्षा की दृष्टि से अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना कर सकता है।

(6) **संचार साधनों की रक्षा-** समस्त भारत में संचार साधनों की रक्षा का भार केन्द्रीय (संघ) सरकार पर ही है। इस सम्बन्ध में केन्द्र सरकार आवश्यक निर्देश दे सकता है।

(7) **मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों के बीच आरोपों की जाँच का अधिकार-** राष्ट्रपति को यदि इस प्रकार का आरोप-पत्र दिया जाता है तो इस प्रकार की जाँच केन्द्र सरकार करवा सकती है। पंजाब के मुख्यमंत्री कैरो और उड़ीसा के मुख्यमंत्री वीरेन मित्रा का मामला इसका उदाहरण है।

(8) **राज्यों में राष्ट्रीय शासन लागू करना-** यह अधिकार संविधान की धारा 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति के नाम पर केन्द्र को प्राप्त है बशर्ते उचित समयावधि में संसद के दोनों सदन इसकी पुष्टि कर दें।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि भारत में प्रशासनिक कार्यपालिका की दृष्टि से केन्द्रवाद है और केन्द्र की स्थिति मजबूत है। कई क्षेत्रीय

दलों वाले राज्य तो केन्द्र की इसीलिये हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। परन्तु यह स्थिति सफल संघात्मक शासन के लिये ठीक नहीं है।

वित्तीय सम्बन्ध– वित्त शासन का सबसे प्रभावशाली तत्व है। कहावत भी है कि जिसके पास वित्तीय अधिकार है उसी का अधिक महत्व होता है। यदि संविधान निर्माताओं को राज्य को वास्तविक रूप से शक्तिशाली बनाना था, तो उनकी वित्तीय स्थिति मजबूत बनानी चाहिये थी। परन्तु भारत में वित्त पर प्रधान नियंत्रण भारत की केन्द्र या संघ सरकार को दिया गया है। यद्यपि वित्तीय क्षेत्र में भी संविधान के द्वारा संघ व राज्य सरकारों के क्षेत्र अलग–अलग निर्धारित किये गये हैं। जहाँ तक संभव हो सका है, दोनों सरकारो के वित्तीय स्रोतों का भी बँटवारा करने का प्रयास किया गया है। परन्तु व्यवहार में संघ सरकार के वित्तीय स्रोत यह विचार कर अधिक रखे गये होंगे कि केन्द्र की जिम्मेदारियां अधिक हैं। इस सम्बन्ध में संविधान के प्रावधानों की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

(1) संघीय सरकार के पास आय के अधिक साधन उपलब्ध हैं। जैसे– आयकर, सीमा–शुल्क, उत्पादन–शुल्क, निगमकर। कम्पनियों के मूलधन पर कर, कृषि–भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों पर कर।

(2) राज्य के आय के साधन भी अलग हैं। जैसे– भू–राजस्व , कृषि–आय कर कृषि–भूमि पर उत्तराधिकार शुल्क, मादक वस्तुओं पर उत्पादन कर या विक्रय कर, यात्री कर, दस्तावेज शुल्क, स्टाम्प ड्यूटी आदि।

इस प्रकार के केन्द्र की आय के स्रोत अधिक हैं, राज्य के गौण हैं।

व्यय की मदें– संविधान ने व्यय की मदें भी बाँट दीं। इनमें केन्द्र की व्यय मदें– सेना, परराष्ट्र संबंध डाकतार, संचार इत्यादि व्यवस्था। राज्य की व्यय की मदे हैं– पुलिस, जेल, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि।

यहां यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि केन्द्र की आय की मदों के साथ व्यय की मदें भी महत्वपूर्ण हैं। परन्तु राज्य की व्यय की मदें अधिक खर्चीली हैं, क्योंकि ये जनकल्याणकारी हैं। यह कटु सत्य है कि राज्य सरकारों की आय कम और खर्चे ज्यादा हैं। इसलिये उन्हें केन्द्र के वित्तीय अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है और केन्द्र वित्तीय अनुदान देने में राजनीतिक (दलीय) आधार पर भेदभाव भी कर सकता है, और कभी–कभी करता भी है। संविधान द्वारा राज्य को अनुदान देने का प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 275 में है। इसमें प्रायः पिछड़े वर्गों को ऊँचा उठाने के लिये अनुदान दिये जाते हैं।

सार्वजनिक ऋण– संघीय सरकार अपनी संचित निधि की जमानत पर देश के अन्दर या बाहर से ऋण ले सकती है, परन्तु राज्य सरकारें विधानमण्डल द्वारा निर्धारित सीमा में ही केवल देश के अन्दर ही ऋण ले सकती हैं। इस प्रावधान के कारण राज्य सरकार प्रायः वित्त के लिये केन्द्र सरकार पर निर्भर रहती हैं।

वित्त आयोग– भारत के संविधान के अनुच्छेद 280 में यह व्यवस्था की गई है कि प्रति 5 वर्ष बाद भारत का राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की स्थापना करेगा जो संघ और राज्यों के बीच करों के वितरण, संचित निधि से व्यय तथा वित्तीय व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों पर

सिफारिश करेगा। अब तक राष्ट्रपति ग्यारह वित्त आयोग की स्थापना कर चुका है। राज्य सरकारें 1967 से ही अपने लिये अधिक वित्तीय साधनों की मांग कर रही हैं। अब तक के 10 वित्त आयोगों ने राज्य के बीच बाँटे जाने वाली रकम के दो हिस्से कर रखे थे। एक फार्मूले के आधार पर वे रकम का अधिकांश हिस्सा राज्यों में बाँट देते थे और शेष एक छोटी रकम रख ली जाती थी, जिसे आर्थिक संकट से जूझ रहे राज्यों में बाँटा जाता था।

ग्यारहवें आयोग, जिसकी स्थापना 1998 में हुई थी ने यह व्यवस्था खत्म करके केन्द्रीय करों से प्राप्त समस्त राजस्व का एक कोष बना दिया। इसमें राज्यों की हिस्सेदारी 29.5 प्रतिशत निर्धारित कर दी। यह भी सिफारिश की गई कि जनसंख्या, प्रति व्यक्ति आय, बुनियादी सुविधाओं, कर–उगाही तथा वित्तीय अनुशासन आदि के आधार पर राज्यों की हिस्सेदारी तय की जाये।

राज्यों के वित्तीय साधनों में वृद्धि आवश्यक है, इसके लिये स्वयं राज्य सरकारों को प्रयत्न करने होंगे। मितव्ययता बरत कर अपने साधनों का सदुपयोग करना होगा। अधिकांश राज्य इस बात का रोना रोते हैं कि उनके वित्त का अधिकांश भाग वेतनों में बँट जाता है। भला इसमें किसी का क्या दोष, पदों का सृजन तो उन्हीं ने किया है। उस पर आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों की नियुक्ति भी राज्य सरकारों ने ही की होगी। फिर मंत्रियों आदि के खर्चों इत्यादि पर जो फिजूलखर्च होता है उसके लिये कौन उत्तरदायी है ?

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के विषय में सरकारिया आयोग की सिफारिशें– केन्द्र–राज्य सम्बन्ध में 1987 नवम्बर में प्राप्त हुई सरकारिया आयोग की रिपोर्ट इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। इसने केन्द्र–राज्य सम्बन्ध के हर पहलू पर विचार कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इसकी सिफारिशों का सार यह है–

राज्यों को और अधिक अधिकार दिये जाने चाहिये। परन्तु इसके लिये संविधान में संशोधन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संविधान में पहले ही राज्यों की स्वायत्ता का प्रावधान है। आज स्थिति यह है कि व्यवहार में केन्द्र (संघ) सरकार राज्य सरकारों के अधिकारों को हड़प रही है। आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्र अपने आपको नियंत्रित करे और संविधान की सही भावना के अनुरूप केन्द्र–राज्यों को उपयुक्त मात्रा में स्वायत्ता प्रदान करे। केन्द्र द्वारा समवर्ती–सूची के विषयों को अपने अधिकार में लाने का कभी प्रयास नहीं करना चाहिये। सरकारिया आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के नियमों को संहिताबद्ध किया जाये जिससे केन्द्र सरकार संविधान के अनुच्छेद 356 का अनावश्यक दुरुपयोग न कर सके।

अन्तर्राज्यीय परिषद्– सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट में केन्द्र–राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों को हल करने के लिये या विवाद पैदा ही न हो, ऐसी स्थिति बनाने के लिये एक अन्तर्राज्यीय परिषद् की व्यवस्था संविधान अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत करने के लिये कहा था। इसके अनुरूप 25 जून 1990 को ऐसी परिषद् की स्थापना भी कर दी गई। प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है। राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के 6 सदस्यों को सदस्य मनोनीत किया गया। सभी राज्यों के मुख्यमंत्री इसके पदेन सदस्य होते हैं। इसका एक स्थायी

संविधानात्मक भी है। परन्तु व्यवहार में कांग्रेस सरकारों (संघीय) की प्रवृत्ति भी राज्यों की स्वायत्ता को हड़पने की रही है और गैर कांग्रेसी सरकारें भी इसी नीति पर चल रही हैं। इससे भारतीय संघवाद के सामने एक स्थायी समस्या है।

प्रश्न–12. भारत में राज्यों की राजनीति में राज्यपाल की भूमिका पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

अथवा

भारतीय राज्यपाल पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

अथवा

भारत के राज्यों में राज्यपाल के पद की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

'भारत में राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रमुख नहीं है।' व्याख्या कीजिये।

अथवा

'राज्य का राज्यपाल पूर्ण रूप से राज्य का संवैधानिक प्रधान नहीं है।' विवेचना कीजिये।

अथवा

भारत में राज्यों की राजनीति और शासन में राज्यपाल पद की वास्तविक स्थिति व महत्व बताइये। क्या वह केन्द्र (संघ) सरकार का एजेन्ट मात्र है?

उत्तर– भारत एक संघात्मक शासन प्रणाली वाला राज्य है। यहां दो प्रकार की सरकारें संविधान द्वारा संगठित की गई हैं। संघ सरकार में राष्ट्रपति, मंत्री–परिषद् तथा संसद शामिल है। राज्य सरकार का संगठन राज्य की मुख्य कार्यपालिका प्रधान राज्यपाल, मंत्री–परिषद् और राज्य विधानसभा से होता है। जिस प्रकार केन्द्र सरकार के लिये कार्यपालिका के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति का पद निर्मित किया गया है उसी प्रकार राज्यों में राज्यपाल का पद है। सिद्धान्तः भारतीय संविधान के अनुसार भारत के प्रान्त के राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख है परन्तु इसकी वास्तविक स्थिति व्यावहारिक अनुभव प्रमाणित करते हैं कि यह विवादास्पद है क्योंकि व्यवहार में अब राज्यपाल ने केन्द्र सरकार के एजेन्ट की भूमिका का ही निर्वाह किया है। राज्य में इस बात का निरन्तर विरोध होता रहा है कि केन्द्र सरकार जबरदस्ती मनचाहे राज्यपाल थोपती है। उपरोक्त विवाद के कारण राज्यपाल की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन आवश्यक है। राज्यपाल की वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने के लिये उसकी नियुक्ति की प्रणाली, व्यवहार और सिद्धान्त दोनों में उसकी शक्तियां, अब राज्यों के राज्यपालों का इस सम्बन्ध में कार्य व्यवहार से उदाहरण लेकर उसकी वास्तविक स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है। अतः राज्यपाल की नियुक्ति, उसकी शक्तियाँ और कार्य व्यवहार का विवेचन किया जाना आवश्यक है।

राज्यपाल की भूमिका– हमारी संघीय व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका सदैव से ही विवादास्पद रही है। यह कहा जाता है कि राज्यपालों ने केन्द्र की सर्वोपरिता की संवृद्धि में योगदान किया है। चूंकि कोई भी राज्यपाल राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्री–मंडलों की मर्जी पर ही पदासीन रहता है और संविधान ने उसे स्वनिर्णय का अधिकार दिया है इसलिये कहा जाता है कि वह केन्द्र का एजेन्ट (प्रतिनिधि) और राज्य के संवैधानिक प्रमुख की भूमिकाओं को एक साथ निभाता है। राज मन्नार समिति ने जिसने राज्य की स्वायत्तता की वकालत की है, केन्द्र के एजेन्ट (प्रतिनिधि) के रूप में राज्यपाल की भूमिका को स्वीकारा है, यद्यपि इसने इस कार्य के सम्पादन के रूप में राज्य के कुछ निश्चित पथ प्रदर्शक सिद्धान्त बनाने की बात की है।

चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व राज्यपाल का पद अनावश्यक माना जाता था क्योंकि देश में एक ही पार्टी का बोलबाला था। इस आम चुनाव तक कांग्रेस ही अधिकतर राज्यों में सत्तारूढ़ थी, इसलिये राज्यपाल के पद का इस समय तक कोई महत्व नहीं था।

चतुर्थ चुनाव में कई राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें सत्तारूढ़ हुई थीं। इसके बाद राज्यपाल का पद विवादास्पद हो गया था। विवाद के मुख्य मुद्दे संविधान के अनुच्छेद 356 का प्रयोग कर राज्यपाल की रिपोर्ट पर आपात स्थिति की घोषणा, किसी मंत्रि मंडल को बरखास्त करने का अधिकार, उसकी जगह दूसरे मंत्रि मंडल की नियुक्ति, राज्य विधानमंडल की बैठकें बुलाना, उनका सत्रावसान करने तथा स्व निर्णय के अनुसार कार्य करने के अधिकार को चुनौती दी गई थी। आलोचकों का कहना था कि राज्यपाल को यह कार्य संवैधानिक प्रमुख रूप में करने चाहिये। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया कि राज्यपाल इन कार्यों को केन्द्र के एजेन्ट के रूप में करता है, यह त्रुटिपूर्ण है। इससे राज्य की निर्वाचित कार्यपालिका की शक्तियों व कार्यों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

इसका एक उदाहरण 1967 के चुनाव के बाद राजस्थान के राज्यपाल का व्यवहार है। इस राज्यपाल ने सरकार बनाने के लिये बहुमत की उपेक्षा कर स्वनिर्णय के अधिकार का प्रयोग किया। उसने संयुक्त मोर्चे के स्थान पर कांग्रेस को मंत्रिमंडल बनाने के लिये आमंत्रित किया। यह गलत था क्योंकि कांग्रेस जो अल्पमत में थी ने सरकार बनाने से इंकार कर दिया। इसके बाद विधानसभा का विघटन किये बिना राज्यपाल ने राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। कांग्रेस को इस बीच तोड़–फोड़ कर अपना बहुमत बना लेने का राज्यपाल ने अवसर दिया। जब तोड़–फोड़ कर कांग्रेस ने अपना बहुमत बना लिया तो फिर से उसे सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया गया और राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया। यह पूरा नाटक अलोकतांत्रिक और संघवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध था।

पश्चिमी बंगाल का उदाहरण– पश्चिम बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल धर्मवीर ने और भी बढ़–चढ़ कर गैर संवैधानिक भूमिका का निर्वाह किया। पश्चिमी बंगाल के उक्त राज्यपाल ने 1967 में स्वनिर्णय के अनुसार मंत्रिमंडल को इस आधार पर बर्खास्त कर दिया कि उसे सदन का विश्वास प्राप्त नहीं है। राज्यपाल की हठधर्मिता का इससे बड़ा नमूना और क्या हो सकता है कि राज्यपाल ने वहां की सरकार को सदन में शक्ति–परीक्षण का अवसर भी प्रदान नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यपाल ने गैर कांग्रेसी दलों के सत्तारूढ़ होने की संभावना होने पर अपने सामान्य संवैधानिक कार्यों को स्वनिर्णय के अनुसार सम्पादित किया। चूंकि राज्यपाल केन्द्र का प्रतिनिधि होता है और उसका पदासीन रहना केन्द्रीय मंत्री–परिषद् की मर्जी पर निर्भर करता है, इसलिये उसने अपने स्वनिर्णय के अधिकार का इस्तेमाल केन्द्रीय

सरकार पर हावी वर्गों और श्रेणियों के हित में किया। अभी हाल ही में रोमेश भंडारी ने उत्तर प्रदेश में जो किया वह तो अति है।

राज्यों में राष्ट्रपति शासन के सुझाव तथा उसे लागू करने की संघीय व्यवस्था उस सीमा तक एकल व्यवस्था के रूप में रूपान्तरित हो गई हैं जहां एक शक्तिशाली केन्द्र ने एक सर्वसत्ता सम्पन्न केन्द्र का रूप ग्रहण कर लिया।

प्रशासनिक सुधार आयोग के सुझाव– इसी संभावना को देख कर प्रशासनिक सुधार आयोग ने कुछ ऐसे सुझाव दिये हैं जिनसे यह निर्णय हो जाये कि मंत्रिमंडल को सदन का विश्वास प्राप्त है या नहीं। उसने कहा था कि जब राज्यपाल को यह विश्वास करने का आधार हो कि मंत्रिमडल ने विधान सभा में बहुमत खो दिया है तब उसे इस प्रश्न के सम्बन्ध में विधान सभा की बैठक बुलाने के बाद और मंत्रिमंडल के समर्थन के सम्बन्ध में उसका निर्णय प्राप्त करके ही अंतिम निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिये। जब यह प्रश्न खड़ा हो जाये कि मंत्रिमंडल को विधान सभा में बहुमत प्राप्त है या नहीं और मुख्य मंत्री राज्यपाल को विधान सभा की बैठक बुलाने की सलाह दे तब अगर राज्यपाल उचित समझे तो इस प्रश्न पर विधान सभा का निर्णय जानने के लिये उसे स्वयं उसकी बैठक बुलानी चाहिये। राज्यपाल की इस प्रकार की स्वनिर्णयगत भूमिका को राज्यों में आपात–स्थिति घोषित करने सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधानों ने बढ़ावा दिया।

राज्यपाल और आपात–स्थिति सम्बन्धी प्रावधान– भारत में संविधान के अन्तर्गत तीन प्रकार की आपात स्थितियों की कल्पना की गई है। ये हैं अनुच्छेद 352 के तहत् आपात–स्थिति, किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता के कारण उत्पन्न आपात–स्थिति (अनुच्छेद 356) और अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत उत्पन्न वित्तीय आपात–स्थिति। संघीय व्यवस्था सम्बन्धी हमारे विवेचन विश्लेषण की दृष्टि से दूसरे प्रकार की आपात–स्थिति अधिक प्रासंगिक है। वह आन्तरिक गड़बड़ियों और कानून एवं व्यवस्था की स्थिति भंग होने तथा राजनीतिक एवं मंत्रिमंडलीय संकट से सम्बद्ध होती है। ऐसी कोई वस्तुपरक कसौटियाँ नहीं हैं जो बतायें कि संवैधानिक तंत्र कब विफल हो गया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि राजस्थान में राज्यपाल या यों कहें केन्द्रीय सरकार ने राज्यपाल के माध्यम से इस प्रावधान के द्वारा कांग्रेस पार्टी को राज्य विधान सभा में बहुमत प्राप्त करने और सरकार बनाने का अवसर दे दिया। आमतौर से 1952 से 1959 तक इस प्रावधान का उपयोग राज्यपाल ने एक विशेष पार्टी का हित साधने के लिये किया। एक विद्वान की राय है कि अनुच्छेद 356 के तहत् राज्यों में सरकारों को बार– बार अपदस्थ करने से लोकतांत्रिक सिद्धान्तों और संवैधानिक प्रावधानों के बीच टकराव पैदा हो गये हैं। कांग्रेस द्वारा संचालित राज्य सरकारों को जनता पार्टी की केन्द्रीय सरकार और जनता पार्टी के नेतृत्व वाली राज्य सरकारों को कांग्रेस (ई) की केन्द्रीय सरकार द्वारा क्रमशः 1978 और 1980 में अपदस्थ किये जाने को इस प्रकार के टकराव का प्रमाण माना जा सकता है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतीय राजनीति और शासन का यह महत्वपूर्ण पद एक अत्यन्त विवाद का पद बन गया है। यह अब गौरव और गरिमा का पद नहीं रह गया है। सरकारिया आयोग ने भी इस प्रश्न पर विचार कर कुछ उपयोगी सुझाव दिये। इस सम्बन्ध में होना यह चाहिये कि राज्यपाल की नियुक्ति तो राष्ट्रपति द्वारा ही होनी चाहिये और राष्ट्रपति को ही पदच्युत करने अथवा पद से हटाने का अधिकार होना चाहिये। परन्तु राष्ट्रपति को यह नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के तत्कालीन मुख्य मंत्री से भी परामर्श लेना चाहिये और ऐसे व्यक्ति को ही किसी राज्य में राज्यपाल बनाना चाहिये जिसे सम्बन्धित राज्य का तत्कालीन मुख्य मंत्री स्वीकार कर ले, ऐसा करने पर ही राज्य की स्वायत्तता कायम रह सकती है।

11वीं लोक सभा के निर्वाचन के बाद तो एक नई प्रवृत्ति यह दृष्टिगोचर हो रही है कि केन्द्र सरकार शक्तिहीन हुई है और वह राज्यों की कृपा पर जीवित है इसलिये अब राज्यपाल की भूमिका और भी विवादास्पद और महत्वपूर्ण हो गई है। 1996 में गुजरात में राज्यपाल और भारतीय जनता पार्टी का विवाद उल्लेखनीय विवाद है। राज्यपाल को शक्तिहीन केन्द्र में और फूंक–फूंक कर कदम रखने की आवश्यकता है।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) भारतीय दल–प्रणाली की चार विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

उत्तर– भारतीय दल–व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

(1) **राजनीतिक दलों के तीन प्रकार**– भारत में तीन प्रकार के राजनीतिक दल पाये जाते हैं– (1) राष्ट्रीय (2) क्षेत्रीय (3) साम्प्रदायिक। इन तीनों ही प्रकार के दलों को कुछ न कुछ वोट अवश्य मिलते हैं और ये भारतीय राजनीति को नियन्त्रित व सन्तुलित करते हैं।

(2) **दलीय अनुशासन**– भारतीय राजनीतिक दलों में (कम्युनिस्ट को छोड़कर) दलीय अनुशासन का बहुत अभाव पाया जाता है। अतः दलों में विश्वास का दोष देखने को मिलता है और इनमें प्रायः विभाजन होता रहता है। इनमें इसी कारण अस्थायित्व भी देखने को मिलता है।

(3) **अधिकांश दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र का अभाव**– भारत के अधिकांश दलों में आन्तरिक लोकतन्त्र नहीं है। भारतीय जनता पार्टी में एक विशेष प्रकार का गुट है जो हावी है। कम्युनिस्ट पार्टी लोकतांत्रिक केन्द्रवाद पर आधारित है।

(4) **शक्तिशाली प्रतिपक्षी भूमिका का अभाव**– भारत में बहुदलीय व्यवस्था होने से कभी शक्तिशाली प्रतिपक्ष नहीं रहा है। इसलिये यहां छाया मन्त्री–मण्डल जैसी स्थिति कभी नहीं बनी।

प्रश्न–(2) सरकारिया आयोग की प्रमुख अनुशंसाओं की विवेचना कीजिये।

अथवा

केन्द्र–राज्य संबंधों के विषय में सरकारिया आयोग की सिफारिशों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– केन्द्र–राज्य संबंधों के विषय में सरकारिया आयोग की सिफारिशें– केन्द्र–राज्य संबंध में 1987 नवंबर को प्राप्त हुई सरकारिया आयोग की रिपोर्ट इस संबंध में महत्त्वपूर्ण है। इसने केन्द्र–राज्य संबंध के हर पहलू पर विचार कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इसकी सिफारिशों का सार यह है–

राज्यों को और अधिक अधिकार दिये जाने चाहिये। परंतु इसके लिये संविधान में संशोधन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि संविधान में पहले ही राज्यों की स्वायत्ता का प्रावधान है। आज स्थिति यह है कि व्यवहार में केन्द्र (संघ) सरकार राज्य सरकारों के अधिकारों को हड़प रही है। आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्र अपने आपको नियंत्रित करे और संविधान की सही भावना के अनुरूप केन्द्र–राज्यों को उपयुक्त मात्रा में स्वायत्ता प्रदान करे। केन्द्र द्वारा समवर्ती–सूची के विषयों को अपने अधिकार में लाने का कभी प्रयास नहीं करना चाहिये। सरकारिया आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि केन्द्र–राज्य संबंधों के नियमों को संहिताबद्ध किया जाये जिससे केन्द्र सरकार संविधान के अनुच्छेद 356 का अनावश्यक दुरूपयोग न कर सके।

प्रश्न–(3) सरकारिया आयोग के संदर्भ में अन्तर्राज्यीय परिषद् पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिये।

उत्तर– अन्तर्राज्यीय परिषद्– सरकारिया आयोग ने अपनी रिपोर्ट में केन्द्र–राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों को हल करने के लिये या विवाद पैदा हो, ऐसी स्थिति बनाने के लिये एक अंतर्राज्यीय परिषद् की व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 263 के अंतर्गत करने के लिये कहा था। इसके अनुरूप 25 जून, 1990 को ऐसी परिषद् की स्थापना भी कर दी गई। प्रधानमंत्री इसका अध्यक्ष होता है। राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मंत्रिमंडल के 6 सदस्यों को सदस्य मनोनीत किया गया। सभी राज्यों के मुख्यमंत्री इसके पदेन सदस्य होते हैं। इसका एक स्थायी सचिवालय भी है। परंतु व्यवहार में कांग्रेस सरकारों (संघीय) की प्रवृत्ति भी राज्यों की स्वायत्ता को हड़पने की रही है। और गैर–कांग्रेसी सरकारें भी इसी नीति पर चल रही हैं। इससे भारतीय संघवाद के सामने एक स्थायी समस्या है।

प्रश्न–(4) राज्यपाल के पद की वास्तविक स्थिति लिखिये।

उत्तर– राज्यपाल पद के संगठन की वास्तविक स्थिति– राज्यपाल के पद पर सामान्यतः यह परम्परायें हैं कि इस पद पर इसके महत्व और गौरव के अनुरूप किसी अच्छे राजनीतिज्ञ या सुयोग्य प्रशासक की नियुक्ति की जाना चाहिये, परन्तु व्यवहार में अब तक यह देखा जाता है कि इस पद पर दलीय आधार पर राजनीतिक व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है। कभी–कभी राज्यपाल पद पर निर्वाचन में असफल रहे अपने दल के व्यक्ति को राज्यपाल का पद पुरस्कार में दे दिया जाता है। यह अनुचित है। जो व्यक्ति किसी पद के लिये जनता का विश्वास प्राप्त नहीं कर सका, उसे किसी राज्य का मुखिया बना देना उचित नहीं है।

प्रश्न–(5) राज्यपाल की न्यायिक शक्तियाँ बताइये।

उत्तर– न्यायिक शक्तियाँ– संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार राज्यपाल को अधिकार है कि वह उन अपराधों के लिये दण्ड पाये हुये व्यक्तियों के, जिनका सम्बन्ध राज्य के अधिकार क्षेत्र से है, दण्ड को कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है या पूर्णतया क्षमा

कर सकता है, परन्तु प्राण दण्ड को क्षमा करने या कम करने का अधिकार उसे नहीं है। इसी प्रकार जिन अपराधों का सम्बन्ध संघ सरकार के अधिकार क्षेत्र के साथ हो, उसके विषय में राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यपाल यह अनुभव करता है कि राज्य पर कोई वैधानिक संकट आने वाला है या राज्य में आन्तरिक शान्ति भंग होने की सम्भावना है तो वह भारत के राष्ट्रपति को इसकी तुरन्त सूचना देता है। संकटकाल में वह राष्ट्रपति के आदेशानुसार शासन का समस्त भार अपने हाथों में ले सकता है।

प्रश्न–(6) केन्द्र–राज्य वित्तीय सम्बन्धों के लिये किये गये संवैधानिक प्रावधानों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– वित्त शासन का सबसे प्रभावशाली तत्व है। कहावत भी है कि जिसके पास वित्तीय अधिकार है उसी का अधिक महत्व होता है। यदि संविधान निर्माताओं को राज्य को वास्तविक रूप से शक्तिशाली बनाना था, तो उनकी वित्तीय स्थिति मजबूत बनानी चाहिये थी। परन्तु भारत में वित्त पर प्रधान नियंत्रण भारत की केन्द्र या संघ सरकार को दिया गया है। यद्यपि वित्तीय क्षेत्र में भी संविधान के द्वारा संघ व राज्य सरकारों के क्षेत्र अलग–अलग निर्धारित किये गये हैं। जहाँ तक संभव हो सका है, दोनों सरकारों के वित्तीय स्रोतों का भी बँटवारा करने का प्रयास किया गया है। परन्तु व्यवहार में संघ सरकार के वित्तीय स्रोत यह विचार कर अधिक रखे गये होंगे कि केन्द्र की जिम्मेदारियां अधिक हैं।

प्रश्न–(7) राज्यपाल के लिये कौनसी योग्यतायें आवश्यक हैं?

उत्तर– संविधान के अनुच्छेद 157 में राज्यपाल के पद के लिये निम्नलिखित योग्यतायें उपबंधित की गई हैं–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. वह भारतीय संघ व उसके अन्तर्गत किसी राज्य के विधानमण्डल या सदन का सदस्य न हो। यदि वह नियुक्ति के समय इस प्रकार के किसी विधानमण्डल या सदन का सदस्य है, तो उसके पद ग्रहण करने की तिथि से वह स्थान रिक्त समझा जायेगा।
4. राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद धारण नहीं करेगा।

प्रश्न–(8) राज्यपाल की न्यायिक शक्तियाँ बताइये।

उत्तर– न्यायिक शक्तियाँ– संविधान के अनुच्छेद 161 के अनुसार राज्यपाल को अधिकार है कि वह उन अपराधों के लिये दण्ड पाये हुये व्यक्तियों के, जिनका सम्बन्ध राज्य के अधिकार क्षेत्र से है, दण्ड को कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है या पूर्णतया क्षमा कर सकता है, परन्तु प्राण दण्ड को क्षमा करने या कम करने का अधिकार उसे नहीं है। इसी प्रकार जिन अपराधों का सम्बन्ध संघ सरकार के अधिकार क्षेत्र के साथ हो, उसके विषय में राज्यपाल को कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि राज्यपाल यह अनुभव करता है कि राज्य पर कोई वैधानिक संकट आने वाला है या राज्य में आन्तरिक शान्ति भंग होने की

सम्भावना है तो वह भारत के राष्ट्रपति को इसकी तुरन्त सूचना देता है। संकटकाल में वह राष्ट्रपति के आदेशानुसार शासन का समस्त भार अपने हाथों में ले सकता है।

प्रश्न–(9) राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति क्या है?

उत्तर– केन्द्र की तरह राज्यों में भी संसदीय शासन होने के कारण राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की है। वह राज्य का संवैधानिक प्रधान है। अर्थात् वह नाममात्र का प्रधान होता है।

इकाई-5

दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–1. क्षेत्रीय (अन्तर्राज्यीय) परिषदों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

उत्तर– क्षेत्रीय (अन्तर्राज्यीय) परिषदें– 21 दिसम्बर, 1955 को 'राज्य पुनर्गठन आयोग' के प्रतिवेदन पर वाद-विवाद के दौरान पं. नेहरू ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि देश की एकता को दृढ़ बनाने के उद्देश्य से देश को चार या पाँच बड़े क्षेत्रों में बाँटकर प्रत्येक क्षेत्र की क्षेत्रीय परिषद् स्थापित की जाये। अन्ततः सन् 1956 के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के अन्तर्गत निम्न पाँच क्षेत्रीय परिषदें स्थापित हुईं–

(1) **उत्तरीय क्षेत्रीय परिषद्–** इसके अन्तर्गत पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान और जम्मू-कश्मीर राज्य तथा दिल्ली एवं चण्डीगढ़ संघ राज्य क्षेत्र सम्मिलित किये गये हैं।

(2) **दक्षिण क्षेत्रीय परिषद्–** इसके अन्तर्गत आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल तथा पांडुचेरी (संघ-राज्य क्षेत्र) सम्मिलित हैं।

(3) **मध्य क्षेत्रीय परिषद्–** इसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ राज्य सम्मिलित हैं।

(4) **पूर्वी क्षेत्रीय परिषद्–** इसके अन्तर्गत पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, बिहार तथा झारखण्ड सम्मिलित हैं।

(5) **पश्चिमी क्षेत्रीय परिषद्–** इसके अन्तर्गत महाराष्ट्र, गुजरात, गोआ राज्य, दादर व नागर हवेली तथा दमन और दीव संघ-राज्य क्षेत्र सम्मिलित हैं।

इसके अतिरिक्त पूर्वोत्तर परिषद् अधिनियम 1971 के अधीन एक पूर्वोत्तर परिषद् भी बनायी गयी है जो कि असम, मेघालय, मणिपुर, नागालैण्ड, त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम तथा मिजोरम की सम्मिलित समस्याओं पर विचार-विमर्श करती है।

उद्देश्य– क्षेत्रीय परिषदों के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

(1) स्थानीय, क्षेत्रीय तथा भाषायी प्रवृत्तियों को समाप्त करना।

(2) देश में भावात्मक एकता उत्पन्न करना।

(3) प्रमुख योजनाओं के क्रियान्वयन में परस्पर सहयोग स्थापित करना।

(4) संघ-राज्यों के साथ पारस्परिक सहयोग में वृद्धि करना ताकि समान हित के लिये समान नीतियाँ विकसित हो सकें।

(5) पृथक्करण से उत्पन्न प्रभावों को दूर करने में सहयोग करना और विकास योजनाओं को समन्वित करना।

(6) क्षेत्रों और राज्यों के मध्य राजनीतिक संतुलन स्थापित करना।

संगठन– क्षेत्रीय परिषदों में निम्न अधिकारी सम्मिलित होते हैं–

(1) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक केन्द्रीय मंत्री।

(2) क्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक राज्य के मुख्यमंत्री।

(3) इन राज्यों के राज्यपालों द्वारा मनोनीत दो अन्य मंत्री।

(4) क्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक केन्द्र-शासित क्षेत्र का राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत एक प्रतिनिधि, प्रायः केन्द्रीय गृहमंत्री इन परिषदों का अध्यक्ष होता है।

राज्यों के विकास आयुक्त, मुख्य सचिव तथा योजना आयोग का एक प्रतिनिधि परिषदों के परामर्शदाता होते हैं। क्षेत्रीय परिषदों के सचिवालय में राज्यों के मुख्य सचिव बारी-बारी से प्रति वर्ष सचिव के रूप में कार्य करते हैं। परिषदों की बैठकें सामान्यतः तीन-तीन मास के अन्तर से होती है।

कार्य– परिषदों द्वारा निम्न विषयों पर विचार किया जाकर सम्बद्ध राज्यों और संघ सरकार को परामर्श (गैर-बाध्यकारी) दिया जाता है–

(1) आर्थिक और सामाजिक नियोजन।

(2) सीमा-विवाद, भाषायी अल्पसंख्यक और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात।

(3) राज्य पुनर्गठन।

महत्व–

(1) इन परिषदों ने सामूहिक सुरक्षा, पुलिस, वित्तीय अधिकारियों के लिये सामूहिक प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय सड़क परिवहन के औचित्यकरण आदि विषय को व्यवस्थित किया है।

(2) इन्होंने विभिन्न राज्यों के परस्पर विवाद में एक मंच का काम अवश्य किया है, जहाँ वे एक-दूसरे की समस्या समझ सकते हैं।

(3) स्व. गोविन्द बल्लभ पंत ने इन्हें 'अन्तर्राज्यीय फोरम' नाम दिया था, जो उचित ही है। वस्तुतः इसके निर्णय परामर्शात्मक होते हैं– आदेशात्मक नहीं।

प्रश्न–2. अन्तर्राज्यीय जल विवाद क्यों उत्पन्न होते हैं? इन विवादों के विभिन्न मुद्दों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– अन्तर्राज्यीय जल विवाद तब उत्पन्न होते हैं जब दो या दो से अधिक राज्यों के बीच दो या दो से अधिक राज्यों में बहने वाली नदियों के उपयोग, वितरण और नियंत्रण को लेकर विवाद होता है। जब सम्बन्धित राज्य बातचीत के माध्यम से विवादों को नहीं सुलझा पाते हैं तो केन्द्र सरकार जल विवाद को सुलझाने हेतु जल विवाद न्यायाधिकरण का गठन करती है। ऐसे विवादों को हल करने तथा अन्तर्राज्य नदी घाटियों के पानी से सम्बन्धित विवादों के निर्णय हेतु **अन्तर्राज्य नदी जल विवाद अधिनियम, 1956** संसद में पारित किया गया था।

भारत में विश्व की 18% आबादी होने के बावजूद भारत के पास विश्व के 4% नवीकरणीय जल संसाधन हैं। भारत में अन्तर्राज्य जल विवाद तब उत्पन्न होते हैं जब दो या दो से अधिक राज्य दो या दो से अधिक राज्यों से होकर बहने वाली नदियों के उपयोग, वितरण एवं नियंत्रण को लेकर परस्पर असहमत होते हैं। भारत की सभी प्रमुख नदी घाटियाँ और इसके अलावा कुछ मध्यम नदी घाटियाँ प्रकृति में अन्तर्राज्यीय है। इसलिए एक राज्य द्वारा एक अन्तर्राज्यीय नदी पर परियोजनाओं का विकास अन्य बेसिन राज्यों के हितों को प्रभावित कर सकता है। प्रायः राज्य इस बात पर असहमत होते हैं कि देश की जल आपूर्ति कितनी असमान रूप से वितरित की जाती है और क्या नदी के पानी को समान रूप से वितरित किया जाना चाहिए?

जल विवाद जल संसाधनों के आवंटन, प्रबंधन या उपयोग को लेकर दो या दो से अधिक पक्षों, जैसे देशों, राज्यों, क्षेत्रों या यहाँ तक कि समुदायों के बीच संघर्ष या असहमति को प्रदर्शित करता है। ये विवाद विभिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं।

जल विवादों के रूप या मुद्दे– जल विवाद के अनेक रूप हो सकते हैं और वे प्रायः निम्नलिखित मुद्दों के आसपास घूमते हैं–

(1) **जल की कमी**– जब सभी पक्षों की जरूरतों को पूरा करने हेतु पर्याप्त जल नहीं होता है, तो उपलब्ध जल संसाधनों के आवंटन पर संघर्ष उत्पन्न हो सकता है।

(2) **पानी की गुणवत्ता**– पानी की गुणवत्ता पर भी विवाद केन्द्रित हो सकते हैं, विशेषकर जब प्रदूषण या संदूषण जल स्रोतों की सुरक्षा और उपयोगिता को प्रभावित करता है।

(3) **सीमा पार जल संसाधन**– जल निकाय जो अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं को पार करते हैं, जैसे नदियाँ या झीलें, पहुँच, उपयोग और प्रबंधन को लेकर पड़ोसी देशों के बीच विवादों का कारण बन सकते हैं।

(4) **जल अधिकार**– जल स्रोतों का स्वामित्व और उपयोग का अधिकार संघर्ष का एक सामान्य स्रोत है। कानूनी ढाँचे, ऐतिहासिक समझौते और सम्पत्ति के अधिकार यह निर्धारित कर सकते हैं कि विशेष जल स्रोत का उपयोग करने का अधिकार किसे है?

(5) **पर्यावरण सम्बन्धी चिन्ताएँ**– जल विवाद तब उत्पन्न हो सकते हैं जब एक पक्ष के जल उपयोग या प्रबंधन प्रथाओं का पारिस्थितिक तंत्र पर प्रतिकूल पर्यावरणीय प्रभाव पड़ता है, जिससे स्थिरता और संरक्षण के बारे में चिन्ताएँ पैदा होती हैं।

(6) **बाँध और बुनियादी ढाँचा**– बाँधों, जलाशयों या अन्य जल बुनियादी ढाँचा परियोजनाओं के निर्माण से संघर्ष हो सकता है, क्योंकि वे डाउनस्ट्रीम जल उपलब्धता और पारिस्थितिकी तंत्र को प्रभावित कर सकते हैं।

(7) **जलवायु परिवर्तन**– मौसम के निरन्तर बदलते रूपों और जलवायु परिवर्तन के कारण बढ़ता जल तनाव, जल संसाधनों की उपलब्धता तथा वितरण में परिवर्तन करना जल विवादों को बढ़ा सकता है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जल विवादों को संघर्ष के पैमाने और प्रकृति के आधार पर बातचीत, मध्यस्थता, कानूनी प्रक्रियाओं या अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के माध्यम से हल किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे संयुक्त राष्ट्र और उसकी एजेंसियाँ, प्राय. सीमा पार जल संसाधनों के लिए बातचीत और समझौतों को सुविधाजनक बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पानी तक न्यायसंगत पहुँच सुनिश्चित करने, स्थिरता को बढ़ावा देने और उन संघर्षों को रोकने हेतु जल विवादों को हल करना महत्वपूर्ण है क्योंकि इनके दूरगामी सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय परिणाम हो सकते हैं।

प्रश्न–3. भारत में मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान राज्यों के बीच नर्मदा नदी जल विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और मूल कारणों की व्याख्या कीजिए। इस मुद्दे के समाधान हेतु क्या उपाय किए गए हैं?

अथवा

नर्मदा नदी जल विवाद पर एक लेख लिखिए।

अथवा

अन्तर्राज्य नदी जल विवादों के समाधान हेतु आप अपने सुझावों को लिखिए।

उत्तर– नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण– भारत सरकार ने 6 अक्टूबर, 1969 को न्यायमूर्ति वी. रामास्वामी की अध्यक्षता में नर्मदा जल के बंटवारे और नर्मदा नदी घाटी विकास पर निर्णय लेने हेतु नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण (NWDT) का गठन किया।

नर्मदा नदी, मध्य भारत की प्रमुख नदियों में से एक है। यह लम्बे समय से चले आ रहे अन्तर्राज्यीय जल विवाद का कारण रही है इसे नर्मदा जल विवाद के रूप में जाना जाता है। नर्मदा नदी जल विवाद भारत में प्रमुख अन्तर्राज्य जल विवादों में से एक है, जिसमें मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान राज्य शामिल हैं। मुख्य रूप से यह विवाद इन राज्यों से होकर बहने वाली नर्मदा नदी के पानी में आवंटन और बंटवारे पर केन्द्रित है। नर्मदा नदी जल विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और मूल कारणों का संक्षिप्त वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है–

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– नर्मदा नदी मध्यप्रदेश से निकलती है और अरब सागर में गिरने से पूर्व गुजरात तथा महाराष्ट्र से होकर बहती है। यह नदी इन राज्यों में सिंचाई, पेयजल और औद्योगिक उद्देश्यों के लिए जल का एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

सरदार सरोवर बाँध परियोजना– इसमें विवाद की जड़ नर्मदा नदी पर बने सरदार सरोवर बाँध के निर्माण के कारण है। यह बाँध परियोजना गुजरात, राजस्थान और महाराष्ट्र के सूखाग्रस्त क्षेत्रों में सिंचाई, पीने का जल और जलविद्युत प्रदान करने हेतु शुरू की गई थी।

जल का उपयोग– नर्मदा नदी जिन राज्यों से होकर बहती है, उनके जल संसाधनों में स्वयं के हित हैं। प्रत्येक राज्य को सिंचाई, पेयजल आपूर्ति और अन्य उपयोगों की आवश्यकता होती है और ये आवश्यकताएँ प्रायः परस्पर विरोधी हो सकती हैं।

मूल कारण

जल आवंटन– प्राथमिक मुद्दा तटीय राज्यों के बीच नर्मदा नदी से जल के आवंटन का है। प्रत्येक राज्य की सिंचाई, पेयजल और औद्योगिक उपयोग के लिए जल की अलग अलग आवश्यकताएँ होती हैं। जल के निष्पक्ष तथा न्यायसंगत वितरण पर निर्णय लेना एक विवादास्पद मुद्दा रहा है।

पर्यावरणीय चिन्ताएँ– नर्मदा नदी बेसिन पर पारिस्थितिक प्रभाव के बारे में सरदार सरोवर बाँध जैसे बड़े बाँधों के निर्माण ने राज्यों की चिन्ताएँ बढ़ा दी हैं। स्थानीय समुदायों का विस्थापन, जैव विविधता की हानि और नदी के प्रवाह और जल की गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव आदि की चिन्ताएँ शामिल हैं।

स्थानीय समुदायों का विस्थापन– बाँध तथा उससे जुड़े बुनियादी ढाँचे के निर्माण के कारण क्षेत्र में रहने वाले अनेक समुदायों का विस्थापन हुआ है। उनके मुआवजे और पुनर्वास से सम्बन्धित मुद्दे विवाद का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण है।

विवाद (समस्या) के समाधान हेतु सरकार द्वारा किए गए उपाय

न्यायाधिकरण और कानूनी ढाँचा– भारत में अन्य अन्तर्राज्य जल विवादों के समान, नर्मदा नदी विवाद को जल बंटवारे पर निर्णय लेने हेतु नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण सहित अन्य न्यायाधिकरणों को भेजा गया था। इस ट्रिब्यूनल ने 1979 में अपना अन्तिम निर्णय दिया, जिसने चारों राज्यों हेतु जल के शेयरों (भागों) का निर्धारण किया।

अन्तर्राज्यीय समझौते– इसमें शामिल राज्यों ने ट्रिब्यूनल की सिफारिशों को लागू करने और दिए गए शेयरों के अनुसार जल आवंटित करने हेतु समझौतों पर हस्ताक्षर किए हैं। ये समझौते राज्यों के बीच छोड़े जाने जल पानी की मात्रा को निर्दिष्ट करते हैं।

मुआवजा (क्षतिपूर्ति) और पुनर्वास– क्षतिपूर्ति और पुनर्वास कार्यक्रमों के माध्यम से विस्थापित समुदायों की चिन्ताओं को दूर करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इन उपायों की प्रभावशीलता और पर्याप्तता पर बहस छिड़ी रहती है।

पर्यावरणीय शमन– पर्यावरण सम्बन्धी चिन्ताओं के कारण बड़े बाँधों के पारिस्थितिक प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से उपाय किए गए हैं। नदी के पारिस्थितिकी तंत्र की रक्षा हेतु न्यूनतम पर्यावरणीय प्रवाह आवश्यकताओं का कार्यान्वयन भी इन उपायों में शामिल है।

निष्कर्ष– यद्यपि उपरोक्त किए गए उपायों ने नर्मदा नदी जल विवाद को हल करने हेतु एक रूपरेखा प्रदान की है, लेकिन इन समझौतों के प्रभावी कार्यान्वयन तथा सम्बन्धित राज्यों, स्थानीय समुदायों और पर्यावरण संरक्षण के प्रतिस्पर्धी हितों को सन्तुलित करने की चुनौतियाँ अभी भी बनी हुई हैं। नर्मदा नदी जल मुद्दे की जटिलताओं को दूर करने हेतु निरन्तर निगरानी, सहयोग और अनुकूल प्रबंधन करना आवश्यक बना रहेगा।

कुछ सामान्य सिद्धान्त और सुझावों का संक्षिप्त वर्णन निम्नवत् किया जा रहा है जो कि समाधान का मार्गदर्शन करेंगे–

(1) **कानूनी ढाँचा–** विवादों के समाधान हेतु वर्तमान कानूनी तंत्र और अन्तर्राज्य नदी जल विवाद अधिनियम, 1956 जैसी संस्थाओं का उपयोग करना चाहिए। यह

अधिनियम जल बंटवारे सम्बन्धी विवादों पर निर्णय लेने हेतु न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान करता है।

(2) **सहयोग तथा संवाद–** भारत में अन्तर्राज्य जल विवादों को हल करने तथा विवाद के मूल कारणों का समाधान करने हेतु सम्बन्धित राज्यों के बीच खुली तथा रचनात्मक बातचीत होना चाहिए व इस हेतु सहयोगात्मक प्रयास किए जाने चाहिए। इसमें सभी प्रभावित पक्षों को शामिल करना चाहिए।

(3) **पर्यावरणीय विचार–** नदी पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य एवं स्थिरता को बनाए रखने हेतु पर्यावरणीय चिन्ताओं को समाधान प्रक्रिया में शामिल किया जाना चाहिए। इसमें यह सुनिश्चित करना शामिल हो सकता है कि यह समाधान क्षेत्र के दीर्घकालिक पारिस्थितिक सन्तुलन को हानि नहीं पहुँचायेगा।

(4) **न्यायसंगत आवंटन–** ऐतिहासिक जल उपयोग पैटर्न, प्रत्येक राज्य की जरूरतों तथा इसमें शामिल नदियों एवं घाटियों की पारिस्थितिक स्थिरता को ध्यान में रखकर यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि जल संसाधनों का आवंटन उचित तथा न्यायसंगत हो।

(5) **बुनियादी ढाँचे का विकास–** बाँधों, जलाशयों और सिंचाई प्रणालियों जैसे बुनियादी ढाँचे के विकास की योजना इस प्रकार से बनाई जानी चाहिए कि डाउनस्ट्रीम राज्यों तथा पारिस्थितिक तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव कम से कम हो।

(6) **कुशल जल प्रबंधन–** जल की बर्बादी को कम करने तथा समग्र जल संसाधन कुशल प्रबंधन को बढ़ाने हेतु सही जल उपयोग नीतियों, जल-बचत प्रौद्योगिकियों में निवेश और जल संरक्षण उपायों के कार्यान्वयन को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

(7) **सार्वजनिक जागरूकता तथा भागीदारी–** जनता के साथ जुड़कर और जल संरक्षण और टिकाऊ जल प्रबंधन प्रथाओं के महत्व के बारे में जन ज़ागरूकता बढ़ाई जानी चाहिए तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में हितधारकों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जावे।

(8) **निगरानी तथा अनुपालन–** जल के उपयोग की निगरानी तथा सहमत जल बंटवारा व्यवस्था के अनुपालन को सुनिश्चित करने हेतु तंत्र स्थापित करना चाहिए। अनुपालन न करने पर दंड तथा सुधारात्मक कार्रवाई की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(9) **प्रवर्तन एवं विवाद समाधान तंत्र–** समाधान समझौते हेतु एक मजबूत प्रवर्तन तंत्र बनाया जाना चाहिए और भविष्य में उत्पन्न होने वाले किसी भी विवाद के समाधान हेतु समाधान तंत्र स्थापित करना चाहिए।

(10) **दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य–** चूँकि जल संसाधन सीमित हैं अतः इसके संरक्षण हेतु दीर्घकालिक योजना बनाई जाना आवश्यक है। इस योजना का उद्देश्य केवल तात्कालिक जरूरतों को पूरा करना न होकर भविष्य की दीर्घकालिक आवश्यकताओं पर भी विचार किया जाना चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट यह है कि भारतीय राज्य की राजनीति में अन्तर्राज्यीय जल विवादों के लिए एक सन्तुलित तथा बहुआयामी दृष्टिकोण/परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है जो टिकाऊ तथा न्यायसंगत जल प्रबंधन को प्राथमिकता देते हुए सभी पक्षों के हितों पर विचार करता है। एक गम्भीर बातचीत और सुव्यवस्थित कार्यान्वित संकल्प ही राज्यों के बीच सामंजस्यपूर्ण सहयोग एवं एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन के जिम्मेवारीपूर्ण उपयोग का मार्ग प्रशस्त कर सकेगा।

प्रश्न–4. भारत में हुये विभिन्न अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवादों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– भारत में विभिन्न अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवाद– भारत को विगत कुछ वर्षों में अनेक अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवादों का सामना करना पड़ा है, जिनमें से प्रत्येक की अपनी अनूठी विशेषताएँ और अन्तर्निहित मुद्दे हैं। भारत में कुछ प्रमुख अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवादों का संक्षिप्त वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है–

(1) **असम–नागालैंड सीमा विवाद–** असम–नागालैंड सीमा विवाद पूर्वोत्तर भारतीय राज्यों असम और नागालैंड के बीच एक लम्बे समय से आ रहा क्षेत्रीय विवाद है। यह विवाद मुख्य रूप से उनकी साझा सीमा के साथ भूमि के सीमांकन तथा स्वामित्व को लेकर है। असम–नागालैंड सीमा विवाद के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आयाम हैं और इसके कारण अनेक वर्षों से इसमें परस्पर छिटपुट झड़पें और तनाव होते रहते हैं।

विवाद के प्राथमिक क्षेत्र असम में कार्बी आंगलोंग और नागालैंड में दीमापुर जिले हैं, साथ ही सीमा पर कुछ छोटे इलाके भी हैं। दोनों राज्यों का इन क्षेत्रों पर अपना दावा है, जिससे इसमें परस्पर विवाद तथा तनाव पैदा हुआ है। भारत की केन्द्र सरकार ने असम–नागालैंड सीमा विवाद में मध्यस्थता तथा समाधान हेतु प्रयास किए हैं। केन्द्र सरकार ने इस मुद्दे की जाँच करने और समाधान सुझाने हेतु विभिन्न समितियों और आयोगों का गठन किया गया है।

(2) **असम–मेघालय सीमा विवाद–** असम–मेघालय सीमा विवाद पूर्वोत्तर भारतीय राज्यों असम और मेघालय के बीच एक लम्बे समय से चला आ रहा क्षेत्रीय विवाद है। यह विवाद उनकी साझा सीमा के पास भूमि के सीमांकन और स्वामित्व के आसपास केन्द्रित है। इसके परिणामस्वरूप कुछ वर्षों में वहाँ परस्पर छिटपुट तनाव और संघर्ष हुए हैं। भारत सरकार ने असम–मेघालय सीमा विवाद में मध्यस्थता और समाधान के प्रयास किए हैं। इस मुद्दे की जाँच करने और समाधान सुझाने के लिए विभिन्न समितियों और आयोगों का गठन भी किया गया है।

(3) **कर्नाटक–महाराष्ट्र सीमा विवाद–** कर्नाटक और महाराष्ट्र के बीच परस्पर विवाद बेलगाम क्षेत्र और उसके आसपास के क्षेत्रों के स्वामित्व और सीमा को लेकर है। दोनों राज्य इस क्षेत्र पर अपना दावा प्रस्तुत करते हैं और इससे भाषायी और सांस्कृतिक तनाव के साथ-साथ कानूनी और राजनीतिक विवाद भी उत्पन्न हुए हैं। कर्नाटक–महाराष्ट्र सीमा विवाद दक्षिण भारतीय राज्य कर्नाटक और पश्चिमी भारतीय राज्य महाराष्ट्र के बीच एक क्षेत्रीय संघर्ष है। इस विवाद के ऐतिहासिक, भाषायी, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारण हैं।

अनेक वर्षों से कर्नाटक और महाराष्ट्र दोनों में विवादित क्षेत्रों के प्रशासनिक नियंत्रण को लेकर असहमति और कानूनी लड़ाई होती रही है। भारत सरकार ने कर्नाटक महाराष्ट्र सीमा विवाद में मध्यस्थता और समाधान के प्रयास किए हैं। इस मुद्दे की जाँच करने और समाधान सुझाने हेतु विभिन्न समितियों और आयोगों का गठन भी किया गया है।

(4) **उड़ीसा–पश्चिम बंगाल सीमा विवाद–** ओडिशा और पश्चिम बंगाल के बीच जलेश्वर और खड़गपुर क्षेत्र के आसपास के क्षेत्रों में सीमा को लेकर विवाद बना हुआ है। इस विवाद की जड़ें ऐतिहासिक हैं और इसने अनेक वर्षों तक कानूनी लड़ाई लड़ी है। उड़ीसा–पश्चिम बंगाल सीमा विवाद में पूर्वी भारतीय राज्यों उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के बीच सीमा पर क्षेत्रीय संघर्ष भी शामिल है। यह विवाद मुख्य रूप से कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों के सीमांकन और स्वामित्व को लेकर है। भारत सरकार ने उड़ीसा–पश्चिम बंगाल सीमा विवाद में मध्यस्थता और समाधान के प्रयास किए हैं। इन मुद्दों की जाँच करने और समाधान सुझाने हेतु विभिन्न समितियों और आयोगों का गठन किया गया है।

(5) **केरल–कर्नाटक सीमा विवाद–** केरल और कर्नाटक के बीच सीमा विवाद में वायनाड जिले के आसपास के सीमावर्ती क्षेत्रों से सम्बन्धित मुद्दे शामिल हैं। इस विवाद के परिणामस्वरूप भूमि उपयोग और स्वामित्व पर असहमति बनी हुई है।

विवाद के प्राथमिक क्षेत्रों में केरल के वायनाड जिले के पास के क्षेत्र और कर्नाटक के आसपास के क्षेत्र शामिल हैं। इन क्षेत्रों में क्षेत्रीय नियंत्रण और अधिकार क्षेत्र को लेकर विवाद खड़े हुए हैं। भारत सरकार द्वारा केरल–कर्नाटक सीमा विवाद में मध्यस्थता और समाधान के प्रयास किए हैं। इस मुद्दे की जाँच करने और समाधान सुझाने हेतु विभिन्न समितियों तथा आयोगों का गठन किया गया है।

(6) **आंध्रप्रदेश–तेलंगाना सीमा विवाद–** आंध्रप्रदेश–तेलंगाना सीमा विवाद एक क्षेत्रीय संघर्ष है जो 2014 में दक्षिण भारतीय राज्य आंध्रप्रदेश के विभाजन के बाद उभरा, जिसके परिणामस्वरूप नए राज्य तेलंगाना का गठन हुआ। यह विवाद मुख्य रूप से दोनों राज्यों के बीच कुछ सीमा क्षेत्रों, सम्पत्तियों और संसाधनों के सीमांकन और स्वामित्व के बारे में है।

नवगठित राज्यों के बीच सम्पत्तियों और देनदारियों का बंटवारा विवाद का कारण बन गया। जल–स्रोतों और ऊर्जा उत्पादन सुविधाओं सहित सरकारी बुनियादी ढाँचे, सार्वजनिक संस्थानों और संसाधनों के आवंटन पर विवाद उत्पन्न हुए। आंध्रप्रदेश और तेलंगाना दोनों राज्यों में बहने वाली नदियाँ और जल निकाय विवाद का केन्द्र बिन्दु बन गए। दोनों राज्यों ने जल संसाधनों पर अपने अधिकार का दावा किया, जिससे जल बंटवारे और सिंचाई परियोजनाओं के निर्माण पर असहमति हुई।

केन्द्र सरकार और दोनों राज्य सरकारों ने आंध्रप्रदेश–तेलंगाना सीमा विवाद को सुलझाने और मध्यस्थता करने के प्रयास किए हैं। परिसंपत्तियों और संसाधनों के विभाजन से सम्बन्धित मुद्दों की जाँच के लिए विभिन्न समितियों और आयोगों की स्थापना की गई है। विवादों का सौहार्द्रपूर्ण समाधान के लिए दोनों राज्यों के बीच बातचीत और चर्चाएँ जारी हैं।

(7) **महाराष्ट्र–गुजरात सीमा विवाद–** महाराष्ट्र–गुजरात सीमा विवाद पश्चिमी भारतीय राज्यों महाराष्ट्र और गुजरात के बीच एक क्षेत्रीय संघर्ष से सम्बन्धित है। मुख्य रूप से यह विवाद कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों के स्वामित्व और सीमांकन के विशेषकर नर्मदा नदी तथा डांग वन क्षेत्र के आसपास का है। विवाद के प्राथमिक क्षेत्रों में नर्मदा नदी के पास के क्षेत्र, डांग वन और आसपास के क्षेत्र शामिल हैं। इन क्षेत्रों में क्षेत्रीय नियंत्रण और अधिकार क्षेत्र को लेकर विवाद चल रहे हैं। दोनों राज्यों के बीच की सीमा नदियों, जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों सहित विविध भू-भागों से होकर गुजरती है, जिससे सटीक सीमांकन और संसाधन आवंटन भी विवादित बने हुए हैं। भारत सरकार ने महाराष्ट्र–गुजरात सीमा विवाद को सुलझाने और मध्यस्थता करने का प्रयास किया है। इस मुद्दे को सुलझाने और हेतु विभिन्न समितियों और आयोगों का गठन किया गया है।

(8) **मध्यप्रदेश–छत्तीसगढ़ के बीच अन्तर्राज्यीय विवाद–** छत्तीसगढ़ की सीमा के पास स्थित ज्वालेश्वर महादेव मन्दिर को लेकर मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के बीच अन्तर्राज्यीय संघर्ष चल रहा था। पड़ोसी मध्यप्रदेश के नगर अमरकंटक नगर परिषद ने मन्दिर की दीवार पर अपना नम्बर अंकित कर दिया है। परन्तु छत्तीसगढ़ का दावा है कि वह मन्दिर के उत्सवों के दौरान आवश्यक रसद और पुलिस बलों का प्रबंधन करता है और मन्दिर समिति राज्य के नागरिकों से बनी है।

सन् 2000 में छत्तीसगढ़ को मध्यप्रदेश से अलग किया गया, तब से यह असहमति थी क्योंकि दोनों राज्यों का कहना था कि ज्वालेश्वर महादेव मन्दिर उनके क्षेत्र में स्थित है। बाद में एक स्थानीय कोर्ट में एक याचिका दाखिल हुई जिसके निपटारा करते हुए कोर्ट द्वारा मन्दिर क्षेत्र को छत्तीसगढ़ की सीमा के अन्दर घोषित किया गया।

निष्कर्ष– यह कहा जा सकता है कि भारत तथा अन्य स्थानों पर अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवाद ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक कारकों से प्रेरित जटिल मुद्दे हैं। इन विवादों में प्रायः समुदायों पर उनके दूरगामी प्रभाव हो सकते हैं। अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवादों को हल करना एक चुनौतीपूर्ण और बहुआयामी प्रक्रिया है जिसके लिए सावधानीपूर्वक बातचीत, कानूनी तंत्र, राजनीतिक समझौते और सामुदायिक विचारों की आवश्यकता होती है।

प्रश्न–5. लोक कल्याणकारी नीतियाँ क्या हैं? इन नीतियों का क्रियान्वयन कैसे किया जाता है?

उत्तर– लोक कल्याणकारी नीतियों का क्रियान्वयन– भारत में लोक कल्याणकारी नीतियों के क्रियान्वयन में एक बहुआयामी दृष्टिकोण/परिप्रेक्ष्य शामिल है। इसकी शुरूआत विशिष्ट सामाजिक आवश्यकताओं और चुनौतियों को समझते हुए नीतियों के सावधानीपूर्वक निर्माण से होती है। एक बार जब ये नीतियाँ आकार ले लेती हैं, तो वे एक विधायी प्रक्रिया से गुजरती हैं, जिसके बाद उन्हें स्वीकृति मिलती है और उनका आगे कार्यान्वयन का मार्ग प्रशस्त होता है। पर्याप्त संसाधन आवंटन हो जाता है। राज्य सरकारें विभिन्न कल्याण कार्यक्रमों हेतु सावधानीपूर्वक बजट बनाती हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक कल्याण और अन्य क्षेत्रों में फैली

विशिष्ट सरकारी एजेंसियों और विभागों को इन नीतियों के विशिष्ट पहलुओं को क्रियान्वित करने का काम सौंपा जाता है। योजनाओं के क्रियान्वयन की प्रगति पर नज़र रखने, बाधाओं की पहचान करने और जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए निरन्तर निगरानी और मूल्यांकन तंत्र स्थापित किए गए हैं। इसमें स्थानीय प्रशासन और जमीनी स्तर की भागीदारी महत्वपूर्ण है, क्योंकि समुदाय के नेता और नगर निकाय यह सुनिश्चित करने के लिए सहयोग करते हैं कि नीतियाँ लक्षित लाभार्थियों तक प्रभावी ढंग से पहुँचे। सक्रिय भागीदारी को बढ़ावा देने, इसमें शामिल लाभों और प्रक्रियाओं के बारे में नागरिकों को सूचित करने के लिए जन जागरूकता अभियान चलाए जाते हैं। प्रौद्योगिकी का एकीकरण प्रक्रियाओं को सुव्यवस्थित करता है, पारदर्शिता बढ़ाता है और नौकरशाही बाधाओं को कम करती है। अधिकारियों को आवश्यक कौशल से सम्पन्न करने हेतु क्षमता निर्माण की पहल की जाती है। इसमें लचीलापन भी रहता है, जो चल रहे मूल्यांकन और बदलती परिस्थितियों के आधार पर कार्य पद्धति को बदलने की अनुमति देता है। अन्ततः योजनाओं का सफल कार्यान्वयन राजनीतिक इच्छाशक्ति, प्रशासनिक दक्षता, सामुदायिक सहभागिता और जनसंख्या के समग्र विकास के लक्ष्य के साथ सामाजिक समावेशन के प्रति प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है।

प्रश्न–6. सरकार ने गरीबी उन्मूलन हेतु कौन–कौन सी लोक कल्याण नीतियाँ तथा कार्यक्रम बनाये जाने चाहिए?

उत्तर– गरीबी उन्मूलन– भारत में गरीबी उन्मूलन एक जटिल और बहुआयामी चुनौती है। इसके लिए व्यापक और निरन्तर दृष्टिकोण की आवश्यकता है। देश में गरीबी उन्मूलन प्रयासों में आर्थिक असमानता, सामाजिक भेदभाव और शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल तक सीमित पहुँच सहित अनेक परस्पर जुड़े मुद्दों को सम्बोधित करना शामिल है। महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम जैसी विभिन्न सरकारी पहलों का उद्देश्य रोजगार के अवसर प्रदान करना और गरीबी में जीवनयापन करने वाले लोगों हेतु बुनियादी आय सुनिश्चित करना है। इसके अलावा, अन्तर–पीढ़ीगत गरीबी के चक्र को तोड़ने हेतु शिक्षा तथा कौशल विकास कार्यक्रम महत्वपूर्ण है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली और प्रत्यक्ष लाभ हस्तान्तरण जैसी लक्षित सामाजिक कल्याण योजनाएँ, कमजोर जनसमुदाय को आवश्यक संसाधन प्रदान करने में भूमिका निभाती हैं। स्थायी आजीविका बनाने के लिए भूमि सुधार और समावेशी आर्थिक नीतियाँ भी आवश्यक हैं। भारत में गरीबी उन्मूलन का लक्ष्य प्राप्त करने हेतु एक समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो न केवल तत्काल आर्थिक जरूरतों को सम्बोधित करे बल्कि गरीब तथा आर्थिक रूप से वंचित समुदायों को सशक्त बनाने, रोजगार के समान अवसर सुनिश्चित करने और सम्पूर्ण देश में समावेशी विकास को बढ़ावा देने पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करे।

भारत में राज्य की राजनीति में गरीबी उन्मूलन में एक विशिष्ट राज्य के भीतर जनसमुदाय के आर्थिक रूप से वंचित समुदायों के उत्थान के उद्देश्य से नीतियों और कार्यक्रमों का रणनीतिक कार्यान्वयन शामिल है। राज्य सरकारें गरीबी के स्तर पर सीधे प्रभाव डालने वाली पहलों को डिजाइन और क्रियान्वित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामान्यतः इस प्रक्रिया में विभिन्न प्रमुख घटक शामिल होते हैं।

प्रश्न–7. भारत में गरीबी उन्मूलन हेतु कौन–कौन सी सार्वजनिक सेवा नीतियों तथा कार्यक्रमों को लागू किया जा रहा है? समझाइए।

उत्तर– **भारत में गरीबी उन्मूलन हेतु सार्वजनिक सेवा नीतियाँ**– भारत में गरीबी उन्मूलन हेतु सार्वजनिक सेवा नीतियों में गरीबी के मूल कारणों और परिणामों को सम्बोधित करने के उद्देश्य से अनेक पहलें शामिल की गई हैं। सरकार द्वारा गरीब जनसमुदाय की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के उत्थान हेतु निम्नलिखित अनेक प्रमुख नीतियाँ तथा कार्यक्रम लागू किए गए हैं–

(1) **राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एनआरएलएम)**– राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन को आजीविका के नाम से भी जाना जाता है। यह योजना ग्रामीण परिवारों को लाभकारी स्वरोजगार और कुशल मजदूरी रोजगार के अवसरों तक पहुँचने में सक्षम बनाकर गरीबी को कम करने पर केन्द्रित है। इसमें स्वयं सहायता को बढ़ावा देना, क्षमता निर्माण और वित्तीय समावेशन शामिल है।

(2) **महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा)**– महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा) ग्रामीण क्षेत्रों में आजीविका सुरक्षा बढ़ाने के उद्देश्य से प्रारम्भ की गई है। यह अधिनियम ग्रामीण परिवारों को प्रति वर्ष 100 दिनों के वेतन रोजगार की गारंटी देता है। यह कार्यक्रम सम्पत्ति निर्माण पर केन्द्रित है जो कि ग्रामीण गरीबों के लिए रोजगार के अवसर प्रदान करके सतत विकास को बढ़ावा देता है।

(3) **दीनदयाल अन्त्योदय योजना (डीएवाई–एनआरएलएम)**– राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एनआरएलएम) विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में स्थायी आजीविका, कौशल विकास और सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा देने के माध्यम से गरीबी उन्मूलन पर केन्द्रित है।

(4) **प्रधानमंत्री आवास योजना (पीएमएवाई)**– प्रधानमंत्री आवास योजना शहरी तथा ग्रामीण गरीबों को लक्षित करते हुए सभी के लिए आवास को सम्बोधित करती है। यह घरों के निर्माण या वृद्धि के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है, जिसका उद्देश्य गरीबों के आवास की स्थिति में सुधार करना और घरविहीन लोगों को आवास प्रदान करना है।

(5) **स्वच्छ भारत अभियान या स्वच्छ भारत मिशन**– स्वच्छ भारत अभियान मुख्य रूप से स्वच्छता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, अप्रत्यक्ष रूप से स्वास्थ्य परिणामों में सुधार और विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाकर गरीबी दूर करने में योगदान करता है।

(6) **राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (एनएसएपी)**– इस कार्यक्रम में इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना, विधवा पेंशन योजना और विकलांगता पेंशन योजना जैसी विभिन्न योजनाएँ शामिल हैं। ये कार्यक्रम समाज के कमजोर वर्गों को उनकी आर्थिक मदद करके उन्हें जीवन स्तर में सुधार हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं।

(7) **राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (एनएचएम)**– राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (एनएचएम) स्वास्थ्य सम्बन्धी चुनौतियों का समाधान करता है जो प्रायः गरीबी दूर करने में योगदान करती है। इसमें मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य में सुधार, बीमारी के बोझ को कम करना और स्वास्थ्य सेवाओं तक आसान पहुँच बढ़ाने की पहलें शामिल हैं।

(8) **राष्ट्रीय शहरी आजीविका मिशन (डीएवाय–एनयूएलएम)**– यह मिशन शहरी गरीबों के बीच स्व–रोजगार के अवसरों, कौशल विकास और उद्यमिता को बढ़ाकर शहरी क्षेत्रों में गरीबी और भेद्यता को कम करने पर केन्द्रित है।

(9) **कौशल भारत मिशन (एसआईएम)**– कौशल भारत मिशन का उद्देश्य युवाओं को रोजगार क्षमता बढ़ाने हेतु कौशल के साथ सशक्त बनाना है। विभिन्न उद्योगों में प्रशिक्षण और प्रमाणन प्रदान करके, यह नौकरी मार्केट में माँग और आपूर्ति के बीच के अन्तर को पाटने का प्रयास करता है, जिसके गरीबी कम होती है।

(10) **डिजिटल इंडिया**– डिजिटल इंडिया पहल डिजिटल साक्षरता को बढ़ावा देती है और सरकारी सेवाओं तक ऑनलाइन पहुँच की सुविधा प्रदान करती है। यह न केवल व्यक्तियों को सशक्त बनाती है, बल्कि वित्तीय समावेशन और विभिन्न कल्याणकारी कार्यक्रमों तक पहुँच को भी बढ़ाती है, जिससे गरीबी कम करने में योगदान मिलता है।

इस प्रकार निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि उपरोक्त सार्वजनिक सेवा नीतियाँ सामूहिक रूप से भारत में गरीबी उन्मूलन के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण बनाती हैं। इन पहलों की सफलता कार्यक्रमों के प्रभावी कार्यान्वयन, उनकी नियमित निगरानी और उभरती चुनौतियों के प्रति अनुकूलन क्षमता पर निर्भर करती है। इन योजनाओं का लक्ष्य समाज को अधिक समावेशी और न्यायसंगत बनाना है जहाँ लोगों के पास स्थायी आजीविका और आवश्यक सेवाओं तक बेहतर पहुँच के माध्यम से स्वयं को गरीबी से बाहर निकालने के साधन हों।

प्रश्न–8. भारत में गरीबी को दूर करने के लिये सरकार द्वारा क्या–क्या प्रयास किये गये हैं? इन प्रयासों का मूल्यांकन करते हुये बताइये कि क्या 'गरीबी हटाओ' का नारा महज चुनावी है?

अथवा

भारत में निर्धनता–उन्मूलन की समस्या क्या है? इसने भारत की राजनीति को किस प्रकार व कहाँ तक प्रभावित किया है?

अथवा

भारत में गरीबी की क्या समस्या है? इस समस्या ने भारत की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया है?

अथवा

शासन के लक्ष्य के रूप में निर्धनता उन्मूलन के प्रयासों का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मूल्यांकन कीजिये।

अथवा

भारत में निर्धनता के कारणों का वर्णन करते हुये उसे दूर करने के उपाय बताइये।

उत्तर– भारत एक गरीब देश है। यद्यपि भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार सुन्दरलाल ने लिखा है कि, 'भारत आरम्भ से ही एक गरीब देश नहीं है।' इसके बारे में एक किवदन्ती प्रचलित थी कि यह सोने की चिड़िया है। यह किवदन्ती पूर्णतया अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं है। 15–16 वीं शताब्दी तक विदेशी व्यापार–सन्तुलन भारत के पक्ष में था और भारत के कारीगरों द्वारा बनाये गये माल गलीचे, बर्तनों और ढाका की मलमल इत्यादि से यूरोप के बाजार पटे रहते थे और भारत के मुर्शिदाबाद नगर का वैभव लन्दन से श्रेष्ठ था।

ब्रिटिश शासन–काल में ब्रिटिश सरकार की नीति ने भारत के कारीगरों को और उद्योग–धन्धों को नष्ट कर डाला, और भारत एक कच्चे माल का (सस्ती दर पर) निर्यातक और बने हुये माल का आयातक देश हो गया था। यहां के मजदूर अब अनुत्पादक खेती पर निर्भर थे। इनके खेत भी छोटे–छोटे अनुपजाऊ हो गये। अतः ब्रिटिश शासन से 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र भारत की सरकार को विरासत में एक अभावग्रस्त, अर्द्ध सामन्तवादी, अर्द्ध पूँजीवादी और जर्जरित सामाजिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था वाला देश मिला था।

भारत की सबसे बड़ी समस्या गरीबी थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 14 अगस्त, 1947 की अर्द्धरात्रि को सत्ता ग्रहण करते हुये कहा था, कि हमें हर आँख का आँसू पोंछना है। इसका आशय भारत की गरीबी दूर करने से ही था। पंडित जवाहरलाल नेहरू के काल में गरीबी उन्मूलन के प्रयास किये गये।

भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू एक संवेदनशील तथा स्वप्नदर्शी प्रधानमन्त्री थे। डॉ. एन. के. श्रीवास्तव ने अपने प्रसिद्ध शोधग्रन्थ **नेहरू और समाजवाद** में लिखा है कि, 'यद्यपि पंडित जवाहरलाल नेहरू समाजवादी ढाँचे का समाज स्थापित करने का संकल्प 1954 के अवाड़ी अधिवेशन में घोषित कर चुके थे, परन्तु वे जानते थे कि समाजवाद में बराबर–बराबर बाँटने के लिये भारत के पास समस्त उत्पादन और सकल राष्ट्रीय आय इतनी कम है कि प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में 5 रुपये भी नहीं पड़ेंगे। इसलिये उन्होंने सोवियत रूस से प्रेरित होकर नियोजित और समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था द्वारा भारत की गरीबी दूर करने के लिये पंचवर्षीय योजनायें बनाईं और लागू कीं।'

नेहरू के राजनीतिक गुरू महात्मा गाँधी भी गरीबी की समस्या से प्रेरित थे और उनका राजनीतिक ध्येय भी हमेशा दरिद्र–नारायण की सेवा था। परन्तु वे भारत को इसके लिये प्राचीन युग की गाड़ी, कुआँ और खुरपी के युग में वापिस ले जाना चाहते थे। नेहरू इससे सहमत नहीं थे, क्योंकि प्रगतिशील समकालीन दुनियाँ से कदम–ताल मिलाना भी आवश्यक था। नौकरशाही और भारत के पूँजीपतियों ने नेहरू के स्वप्न को पूर्ण साकार नहीं होने दिया।

नेहरू के बाद गरीबी–उन्मूलन की राजनीति– नेहरू के बाद लालबहादुर शास्त्री अल्पकालीन प्रधानमन्त्री रहे। उनके बाद नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं।

श्रीमती गाँधी इस निष्कर्ष पर पहुँचीं, कि उनके पिता के स्वप्नपूर्ति के मार्ग में प्रमुख दो बाधायें आईं– (1) भारत में भयंकर जनसंख्या विस्फोट है, जो पंचवर्षीय योजनाओं में प्राप्त

हुई विकास दर को चाट जाता है। (2) पूँजीवाद, जिसको भारत का वर्तमान संविधान और न्यायपालिका का साथ प्राप्त है।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने गरीबी–उन्मूलन को राजनीति का सीधा मुद्दा बनाया। इसके लिये बीस–सूत्रीय कार्यक्रम बनाये तथा 'गरीबी हटाओ' का नारा दिया। इसके लिये उन्होंने निम्नलिखित महत्वपूर्ण कदम उठाये–

(1) जनसंख्या नियन्त्रण।

(2) बैंकों का राष्ट्रीयकरण जो कि संविधान में 42 वां संशोधन करके किया।

(3) मौलिक अधिकारों के स्थान पर नीति–निर्देशक तत्वों को वरीयता।

(4) न्यायपालिका की भूमिका का बदलाव।

यद्यपि श्रीमती इन्दिरा गाँधी की सोच किसी सीमा तक सही थी, परन्तु उन्हें भी जनसंख्या नियन्त्रण के प्रतिक्रियावादी विरोध और पूँजीपतियों के विरोध के कारण 1977 के चुनावों में पराजय का मुँह देखना पड़ा। यद्यपि आपातकाल में नौकरशाही द्वारा की गई अति के कारण भी यह पराजय हुई थी। परन्तु मूल कारण इन्दिरा गाँधी के प्रगतिशील कार्यक्रम ही थे।

1980 में यद्यपि जनता ने अपनी भूल स्वीकार की, परन्तु 1981 से 1984 तक के काल में वे इस दिशा में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा पायीं।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के बाद भारत में गरीबी–उन्मूलन की दिशा– श्रीमती इन्दिरा गाँधी की मृत्यु के बाद उनके गैर–राजनीतिक पायलट पुत्र राजीव गाँधी भारत के प्रधानमन्त्री बने। वे राजनीतिज्ञ नहीं थे। उनकी नीतियों का लक्ष्य भारत को 21 वीं सदी के अनुरूप प्रगतिशील बनाना था। इस लक्ष्य में गरीबी का लक्ष्य भटक गया और भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने भी नेहरू का समाजवाद और इन्दिरा गाँधी का 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रम को तिलांजली दे दी।

अब उसके बाद के प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव (अब दिवगन्त), वर्तमान प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह इत्यादि कोई भी बड़ा काँग्रेसी नेता हमें गरीबों के लिये चिन्तन करता हुआ दिखाई नहीं देता। कहने के लिये तो भारत में कई समाजवादी दल हैं, परन्तु इनमें किसी का भी कार्यक्रम गरीबी–उन्मूलन नहीं है। सच्चाई यह है कि अब भारत में गरीब का कोई धनी–धोरी नहीं बचा है। गरीबी हटाओ के बजाये आज 'गरीब हटाओ' की राजनीति चल रही है। इसके अन्तर्गत उनकी झुग्गी–झोंपड़ियों को उजाड़कर उनके स्थान पर बहुमंज़िला इमारतें खड़ी करवाना इसका एक उदाहरण है। गरीब के पास उसके अमूल्य कहे जाने वाले मत (वोट) की पूँजी है, परन्तु उसके भी कई ठेकेदार और दलाल उत्पन्न हो गये हैं, जो जाति, धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि के नाम पर या मौका पड़े तो कुछ आर्थिक प्रलोभन देकर उसके मत (वोट) को अपने मनचाहे दल को दिलवा सकते हैं। ये राजनीतिक माफिया उसे मतदान केन्द्र तक जाने ही नहीं देते, और उसका फर्जी मत डलवाकर लोकतन्त्र की खानापूरी हो जाती है।

यूपीए सरकार ने गरीबी उन्मूलन के अन्तर्गत ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना (100 दिन का रोजगार) प्रारम्भ की। अब 2014 में सोलहवीं लोक सभा में भाजपा की सरकार

बनी है। वर्तमान प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी से देश की गरीब जनता को बहुत आशायें है। देखें श्री मोदी गरीबी उन्मूलन हेतु कौनसे कदम उठाते हैं ?

प्रश्न–9. खाद्य सुरक्षा से क्या आशय है? भारत में खाद्य सुरक्षा की सार्वजनिक सेवा नीतियाँ कौन–कौन सी हैं? विस्तार से समझाइए।

अथवा

भारत में खाद्य सुरक्षा कार्यक्रमों तथा नीतियों पर एक लेख लिखिए।

उत्तर– **खाद्य सुरक्षा**– भारत में राज्य की राजनीति में खाद्य सुरक्षा से सम्बन्धित लोक कल्याण यह सुनिश्चित करने के लिए एक मौलिक प्रतिबद्धता का प्रतिनिधित्व करता है कि राज्य के सभी नागरिकों को पर्याप्त, सुरक्षित और पौष्टिक भोजन मिले। राज्य सरकारें खाद्य सुरक्षा चुनौतियों से निपटने हेतु नीतियों को डिजाइन करने और उन्हें लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इसमें सार्वजनिक वितरण प्रणाली और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का कुशल संचालन शामिल है, जो मिलकर खाद्य सुरक्षा पहल का आधार बनते हैं। अन्त्योदय अन्न योजना और अन्नपूर्णा योजना जैसी लक्षित योजनाओं के माध्यम से, राज्यों का लक्ष्य समाज के सबसे कमजोर वर्गों तक पहुँचकर जरूरतमंद लोगों को सब्सिडी वाला या मुफ्त खाद्यान्न उपलब्ध कराना है। राज्य की राजनीति में स्कूलों में मध्यान्ह भोजन योजना एवं बच्चों और गर्भवती महिलाओं में कुपोषण से निपटने हेतु एकीकृत बाल विकास सेवाओं जैसे कार्यक्रमों का प्रभावी प्रशासन भी शामिल है। इसके अतिरिक्त राज्य खाद्य उत्पादन बढ़ाने और किसानों की आजीविका में सुधार करने हेतु राष्ट्रीय कृषि विकास योजना जैसी कृषि तथा ग्रामीण विकास नीतियों को लागू किया जा सकता है। इन प्रयासों की सफलता राज्य के नेताओं की प्रतिबद्धता, पारदर्शी शासन और स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी में निहित है, जो यह सुनिश्चित करती है कि खाद्य सुरक्षा के सम्बन्ध में सार्वजनिक कल्याण राज्य–स्तरीय नीतियों और राजनीतिक एजेंडे की नींव है।

भारत में राज्य की राजनीति में खाद्य सुरक्षा की नीतियों तथा कार्यक्रमों का निर्माण एवं कार्यान्वयन शामिल है जिससे कि यह सुनिश्चित किया जा सके कि एक विशिष्ट राज्य के सभी नागरिकों को पर्याप्त, सुरक्षित तथा पौष्टिक भोजन मिले। राज्य सरकारें भोजन की उपलब्धता, पहुँच और उपयोग से संम्बन्धित जटिल चुनौतियों का समाधान करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

भारत में खाद्य सुरक्षा की सार्वजनिक सेवा नीतियाँ– भारत में खाद्य सुरक्षा सार्वजनिक सेवा नीतियों का एक महत्वपूर्ण पहलू है। सरकार ने सभी नागरिकों के लिए पर्याप्त और पौष्टिक भोजन तक पहुँच सुनिश्चित करने हेतु विभिन्न पहलें लागू की हैं। देश में खाद्य सुरक्षा की चुनौतियों से निपटने में सरकार की निम्नलिखित अनेक प्रमुख नीतियाँ अपना योगदान देती हैं–

(1) **राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम (एनएफएसए)**– सन् 2013 में लागू राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम एक ऐतिहासिक कानून है जो लगभग देश की दो–तिहाई जन समुदाय को सब्सिडी वाला खाद्यान्न उपलब्ध कराता है। यह प्राथमिकता वाले परिवारों की पहचान करता है तथा खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु निश्चित कीमतों पर खाद्यान्न वितरण का प्रावधान करता है।

(2) **सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस)**– सार्वजनिक वितरण प्रणाली योजना भारत के खाद्य सुरक्षा प्रयासों की आधारशिला है। इसमें उचित मूल्य की दुकानों के नेटवर्क के माध्यम से रियायती मूल्य पर चावल, गेहूँ और चीनी जैसी आवश्यक खाद्य वस्तुओं का वितरण शामिल है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य जन समुदाय के आर्थिक रूप से वंचित परिवारों को खाद्य पदार्थों को उपलब्ध कराना है।

(3) **मध्यान्ह भोजन योजना (एमडीएमएस)**– इस योजना को देशभर के स्कूलों में लागू किया गया है। इसका उद्देश्य छात्रों के पोषण स्तर को बढ़ाना और नियमित स्कूल में उनकी उपस्थिति को प्रोत्साहित करना है। इस योजना के तहत स्कूली बच्चों को मुफ्त भोजन उपलब्ध कराया जाता है,जिसमें चावल, दाल, सब्जियाँ और फल जैसे खाद्यान्न पदार्थ शामिल हैं।

(4) **एकीकृत बाल विकास सेवाएँ (आईसीडीएस)**– एकीकृत बाल विकास सेवाएँ (आईसीडीएस) कार्यक्रम गर्भवती महिलाओं, स्तनपान कराने वाली माताओं और छह वर्ष से कम उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण पर केन्द्रित है। यह महिलाओं के कुपोषण को दूर करने और उनके समग्र कल्याण को बढ़ावा देने हेतु पूरक पोषण, स्वास्थ्य जाँच और टीकाकरण प्रदान करता है।

(5) **अन्नपूर्णा योजना**– अन्नपूर्णा योजना उन वरिष्ठ नागरिकों को लक्षित करती है जो राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम (NFSA) के अन्तर्गत नहीं आते हैं। इस कार्यक्रम के तहत, पात्र लाभार्थियों को प्रति माह 10 किलोग्राम मुफ्त खाद्यान्न मिलता है, जिससे आय के नियमित स्रोत के बिना बुजुर्ग व्यक्तियों की पोषण सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने में सहायता मिलती है।

(6) **लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली (टीपीडीएस)**– लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली (टीपीडीएस) सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) का एक विस्तार है, जो खाद्य सब्सिडी के लक्षित वितरण पर ध्यान केन्द्रित करता है। इसमें सामाजिक–आर्थिक मानदंडों के आधार पर लाभार्थियों की पहचान शामिल है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि समाज के सबसे कमजोर वर्गों को अपेक्षित लाभ मिले।

(7) **राष्ट्रीय पोषण मिशन (पोषण अभियान)**– पोषण अभियान 2018 में शुरू किया गया था। यह एक व्यापक पहल है जो कुपोषण को सम्बोधित करती है। इसका उद्देश्य बहु–क्षेत्रीय दृष्टिकोण के माध्यम से बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा स्तनपान कराने वाली महिलाओं की पोषण सम्बन्धी समस्याओं को दूर करना है।

(8) **अन्त्योदय अन्न योजना (एएवाई)**– अन्त्योदय अन्न योजना (एएवाई) सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) का एक हिस्सा है। यह विशेष रूप से अत्यन्त गरीब परिवारों को लक्षित करता है। यह अत्यन्त गरीब लोगों के लिए बुनियादी खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु उन्हें अत्यधिक रियायती दरों पर खाद्यान्न प्रदान करता है।

(9) **राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (आरकेवीवाई)**– यह राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (आरकेवीवाई) विशेष रूप से खाद्य सुरक्षा पर केन्द्रित नहीं है, कृषि उत्पादकता बढ़ाने के उद्देश्य से पहल का समर्थन करता है एवं अप्रत्यक्ष रूप से देश में स्थिर और पर्याप्त खाद्य आपूर्ति सुनिश्चित करने में अपना योगदान देता है।

निष्कर्ष– इस प्रकार से उपरोक्त सार्वजनिक सेवा नीतियाँ पौष्टिक भोजन की उपलब्धता, पहुँच और उपयोग सहित मुद्दे के विभिन्न आयामों को सम्बोधित करके भारत में खाद्य सुरक्षा प्राप्त करने के लक्ष्य की दिशा में सामूहिक रूप से काम करती हैं। इन नीतियों की सफलता प्रभावी कार्यान्वयन, नियमित निगरानी और खाद्य सुरक्षा के गतिशील परिदृश्य में उभरती चुनौतियों के अनुकूलन पर निर्भर करती है।

प्रश्न–10. भारत में राज्य की राजनीति में महिला सशक्तिकरण हेतु बनाई गई नीतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– भारत में राज्य की राजनीति में महिला सशक्तिकरण हेतु नीतियाँ– भारत में राज्य की राजनीति में महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से अनेक नीतियों का कार्यान्वयन हो रहा है। ये नीतियाँ शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य और राजनीतिक प्रतिनिधित्व सहित अनेक क्षेत्रों को कवर करती हैं। राज्य स्तर पर महिला सशक्तिकरण पर केन्द्रित कुछ प्रमुख नीतियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) **महिला एवं बाल विकास विभाग**– अनेक राज्यों ने महिलाओं और बच्चों की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु समर्पित महिला एवं बाल विकास विभाग स्थापित किए हैं। ये विभाग पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षा और समग्र कल्याण से सम्बन्धित नीतियाँ बनाते हैं और उन्हें लागू करते हैं।

(2) **स्थानीय शासन (पंचायती राज) में आरक्षण**– अनेक राज्यों ने पंचायती राज संस्थान (स्थानीय स्व–सरकारी निकायों) में महिलाओं हेतु आरक्षण शुरू किया है, जिससे जमीनी स्तर पर निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में उनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हो सके। इस पहल का उद्देश्य स्थानीय शासन में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देना है।

(3) **किशोरी शक्ति योजना**– कुछ राज्यों ने किशोरियों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए किशोरी शक्ति योजना लागू की है। यह कार्यक्रम स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षा जैसे मुद्दों को सम्बोधित करता है। इसका उद्देश्य युवा लड़कियों को सशक्त बनाना और उन्हें आगे उज्ज्वल भविष्य के लिए तैयार करना है।

(4) **मुख्यमंत्री कन्या विवाह योजना**– अनेक राज्यों ने यह योजनाएँ शुरू की हैं। इस योजना द्वारा सरकार अत्यन्त गरीब परिवारों की लड़कियों की शादी के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य परिवारों पर वित्तीय बोझ को कम करना और लैंगिक समानता को बढ़ावा देना है।

(5) **महिला पुलिस स्वयंसेवक**– महिलाओं की सुरक्षा बढ़ाने हेतु कुछ राज्यों में महिला पुलिस स्वयंसेवक जैसी पहल शुरू की है। ये स्वयंसेवक महिला सुरक्षा और कल्याण से सम्बन्धित मुद्दों को सम्बोधित करते हुए पुलिस और समुदाय के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं।

(6) **महिला उद्यमिता कार्यक्रम**– अनेक राज्य विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से महिला उद्यमिता को बढ़ावा देते हैं। इसमें वे महिलाओं को अपना व्यवसाय शुरू करने और बनाए रखने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु वित्तीय सहायता, प्रशिक्षण और सलाह देने का कार्य करते हैं।

(7) **लिंग संवेदीकरण और प्रशिक्षण कार्यक्रम**– कुछ राज्य लैंगिक राज्य मुद्दों के बारे में जागरूकता पैदा करने और अधिक समावेशी और न्यायसंगत समाज को बढ़ावा देने हेतु कानून प्रवर्तन एजेंसियों, न्यायपालिका और शैक्षणिक संस्थानों के लिए लिंग संवेदीकरण और प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करते हैं।

(8) **ममता योजना**– यह योजना पश्चिम बंगाल राज्य में शुरू की गई है। ममता योजना गर्भवती और स्तनपान कराने वाली महिलाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इस योजना का लक्ष्य मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य में सुधार करना है। यह योजना प्रजनन वर्षों के दौरान महिलाओं की भलाई पर जोर देती है।

(9) **स्त्री निधि क्रेडिट सहकारी संघ**– स्त्री निधि क्रेडिट सहकारी संघ तेलंगाना राज्य में महिला उद्यमियों हेतु वित्तीय सहायता, प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण प्रदान करके महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण का समर्थन करती है।

(10) **वन–स्टॉप सेंटर (सखी)**– हिंसा से प्रभावित महिलाओं को सहायता प्रदान करने हेतु विभिन्न राज्यों में वन–स्टॉप सेंटर (इन्हें सीख केन्द्र भी कहा जाता है) स्थापित किए गए हैं। ये केन्द्र एक ही स्थान पर हिंसा प्रभावित महिलाओं को चिकित्सा, कानूनी और परामर्श सेवाएँ प्रदान करते हैं।

(11) **गरिमापूर्ण आवास कार्यक्रम**– कुछ राज्यों ने विशेष रूप से घरेलू हिंसा या बेघर होने का सामना करने वाली महिलाओं हेतु आवास कार्यक्रम शुरू किए हैं, जो उन्हें सुरक्षित और किफायती आवास विकल्प प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष– इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उपरोक्त नीतियाँ सामूहिक रूप से लैंगिक असमानताओं को दूर करने और एक ऐसा वातावरण बनाने हेतु भारत में राज्य सरकारों की प्रतिबद्धता को दर्शाती है जहाँ महिलाएँ सशक्त जीवन जी सकती हैं। यद्यपि इन नीतियों कार्यान्वयन और प्रभाव अलग–अलग हो सकते हैं, लेकिन इन नीतियों का व्यापक लक्ष्य देश के विभिन्न राज्यों में महिलाओं के समग्र विकास और सशक्तिकरण को सुनिश्चित करना होता है।

प्रश्न–11. भारत में राज्य की राजनीति में सशक्तिकरण पर एक लेख लिखिए।

उत्तर– भारत में राज्य की राजनीति में सशक्तिकरण का तात्पर्य राज्य सरकारों द्वारा व्यक्तियों और समुदायों को अपने अधिकारों का प्रयोग करने, निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लेने और उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति में सुधार करने में सक्षम

बनाने के लिए जानबूझकर और रणनीतिक प्रयासों से है। इस अवधारणा में सशक्तिकरण सहित विभिन्न आयाम शामिल होते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में राज्य सरकारें ऐसी नीतियों को लागू कर सकती हैं जो हाशिए पर पड़े रहने वाले कमजोर वर्गों के प्रतिनिधित्व तथा उनकी भागीदारी को बढ़ावा या प्रोत्साहन देती है। यह सुनिश्चित करती है कि शासन संरचनाओं में उनकी आवाज सुनी जाए। इसमें सकारात्मक कार्रवाई के उपाय, राजनीतिक निकायों में आरक्षण और नागरिक सहभागिता बढ़ाने के प्रयास शामिल किए जाते हैं।

आर्थिक रूप से सशक्तिकरण पहल सर्वप्रथम विशेषतः हाशिए पर पड़े रहने वाले समुदायों के लिए शिक्षा, कौशल विकास और रोजगार के अवसरों तक पहुँच प्रदान करने पर ध्यान केन्द्रित करती है। राज्य सरकारें उद्यमिता को समर्थन देने, नौकरी के अवसर पैदा करने और आर्थिक असमानताओं को दूर करने के लिए योजनाएँ बनाती हैं।

सामाजिक सशक्तिकरण में जातिगत भेदभाव, लैंगिक असमानता और सम्प्रदायिक विकास जैसे मुद्दों को सन्दर्भित किया जाता है राज्य की राजनीति उन कानूनों और कार्यक्रमों को लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है जो सामाजिक न्याय को बढ़ावा तथा प्रोत्साहन देते हैं. कमजोर वर्गों के अधिकारों की रक्षा करते हैं तथा सम्मान और समावेशन की भावना को बढ़ावा देते हैं।

राज्य की राजनीति में सशक्तिकरण के प्रमुख तत्वों में सुशासन, पारदर्शिता और जवाबदेही को बढ़ावा या प्रोत्साहन देना भी शामिल है। यह सुनिश्चित करना कि सरकारी नीतियाँ और कार्यक्रम लोगों की जरूरतों के प्रति प्रभावी ढंग से सम्प्रेषित, सुलभ तथा उत्तरदायी हैं, नागरिकों के सशक्तिकरण में योगदान देता है।

इस प्रकार से संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि भारत में राज्य की राजनीति में सशक्तिकरण में एक व्यापक दृष्टिकोण शामिल होता है जो कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आयामों तक विस्तृत है। राज्य के नेताओं से इसके लिए ऐसी नीतियाँ बनाने की प्रतिबद्धता की आवश्यकता है जो समाज के हाशिए पर पड़े कमजोर वर्गों का उत्थान करें, उन्हें अवसर प्रदान करें और एक ऐसा वातावरण बनाएँ जहाँ वे अपनी नियति को आकार देने में सक्रिय रूप से भाग ले सकें। सशक्तिकरण पहल की सफलता राजनीतिक इच्छाशक्ति, योजनाओं के कुशल कार्यान्वयन और एक समावेशी और न्यायपूर्ण समाज को बढ़ावा तथा प्रोत्साहन देने हेतु निरन्तर प्रतिबद्धता पर निर्भर करती है।

प्रश्न–12. भारत में सशक्तिकरण से सम्बन्धित केन्द्रिय सार्वजनिक सेवा नीतियों का वर्णन कीजिए।

अथवा

भारत में नागरिकों के सशक्तिकरण से सम्बन्धित अधिकारिता नीतियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– भारत में सशक्तिकरण से सम्बन्धित सार्वजनिक सेवा नीतियों में समाज के हाशिये पर पड़े हुए वंचित वर्गों के विकास, समावेशन और भागीदारी को बढ़ावा देने के उद्देश्य से व्यापक पहलें शामिल हैं। ये नीतियाँ राजनीतिक प्रतिनिधित्व, आर्थिक अवसर, सामाजिक

न्याय और बुनियादी सेवाओं तक पहुँच सहित विभिन्न पहलुओं को सम्बोधित करती हैं। भारत में सशक्तिकरण पर केन्द्रित कुछ प्रमुख सार्वजनिक सेवा नीतियों का वर्णन निम्नवत् है

(1) महिला सशक्तिकरण कार्यक्रम– यह कार्यक्रम बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ अभियान एवं महिला शक्ति केन्द्र जैसी पहल शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल और आर्थिक अवसरों को बढ़ावा देकर महिलाओं को सशक्त बनाने पर केन्द्रित है। दहेज, घरेलू हिंसा तथा लैंगिक भेदभाव जैसे मुद्दों को सम्बोधित करने वाले कानूनी प्रावधान भी महिला सशक्तिकरण में अपना योगदान देते हैं।

(2) सकारात्मक कार्रवाई नीतियाँ– भारत में सकारात्मक कार्रवाई नीतियों का पुराना इतिहास है, जिसमें शिक्षा, सरकारी नौकरियों और अनुसूचित जाति (एससी), अनुसूचित जनजाति (एसटी) और अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व में आरक्षण शामिल है। इन नीतियों का लक्ष्य इन वर्गों पर हो रहे अन्यायों को दूर करना एवं समावेशी विकास को बढ़ावा देना है।

(3) मनरेगा (महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम)– मनरेगा योजना ग्रामीण परिवारों को प्रति वर्ष 100 दिनों के वेतन रोजगार की गारंटी देता है, आर्थिक सहायता प्रदान करता है और जमीनी स्तर पर लोगों के सशक्तिकरण को बढ़ावा देता है। यह योजना सम्पत्ति निर्माण, ग्रामीण आजीविका बढ़ाने तथा आर्थिक कमजोरियों को कम करने पर केन्द्रित है।

(4) कौशल विकास कार्यक्रम– कौशल विकास कार्यक्रम का उद्देश्य युवाओं को रोजगार क्षमता बढ़ाने हेतु उनको कौशल प्रदान करके सशक्त बनाना है। विभिन्न कौशल विकास कार्यक्रम विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षण प्रदान करते हैं, जो आर्थिक सशक्तिकरण और बेरोजगारी को कम करने में योगदान करते हैं।

(5) स्थानीय शासन में आरक्षण– पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं तथा हाशिए पर पड़े वंचित वर्गों के लिए आरक्षण कोटा निर्धारण किया गया है, जिससे स्थानीय शासन में उनका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित होता है। इन समूहों को जमीनी स्तर पर निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लेने का अधिकार होता है।

(6) प्रधानमंत्री जन–धन योजना– प्रधानमंत्री जन–धन योजना का लक्ष्य वित्तीय समावेशन को बढ़ावा या प्रोत्साहन देकर व्यक्तियों को आर्थिक रूप से सशक्त बनाना है। यह बैंक खाते खोलने को प्रोत्साहित करता है तथा औपचारिक बैंकिंग सेवाओं और सरकार सब्सिडी तक उनकी पहुँच को सुविधाजनक बनाता है।

(7) राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन (एनआरएलएम)– इस योजना का लक्ष्य स्वयं सहायता समूहों को बढ़ावा तथा प्रोत्साहन देकर, वित्तीय सहायता प्रदान करके और उन्हें कौशल विकास के अवसर प्रदान करके ग्रामीण परिवारों, मुख्य रूप से महिलाओं को सशक्त बनाना है। यह मिशन स्थायी आजीविका और आर्थिक स्वतन्त्रता पर केन्द्रित है।

(8) **डिजिटल इंडिया–** डिजिटल इंडिया पहल नागरिकों को सशक्त बनाने हेतु प्रौद्योगिकी का लाभ उठाने पर केन्द्रित है। इसमें डिजिटल साक्षरता प्रदान करना, सरकारी सेवाओं तक ऑनलाइन पहुँच की सुविधा प्रदान करना और कुशल एवं पारदर्शी सेवा वितरण हेतु ई-गवर्नेंस को बढ़ावा/प्रोत्साहन देना जैसी पहलें शामिल हैं।

(9) **भेदभाव विरोधी कानून–** ये कानून जाति, धर्म, लिंग तथा अन्य कारकों के आधार पर भेदभाव को सम्बोधित करने वाले कानूनी प्रावधान व्यक्तियों और समुदायों के अधिकारों एवं सम्मान की रक्षा करके सशक्तिकरण में योगदान करते हैं।

(10) **शिक्षा नीतियाँ–** सर्व शिक्षा अभियान और शिक्षा का अधिकार अधिनियम जैसी विभिन्न शैक्षिक नीतियों का उद्देश्य गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तक सार्वभौमिक पहुँच सुनिश्चित करके व्यक्तियों को सशक्त बनाना है। व्यक्तिगत विकास और सामाजिक गतिशीलता के लिए शिक्षा को एक प्रमुख उपकरण के रूप में माना जाता है।

निष्कर्ष– उपरोक्त सार्वजनिक सेवा नीतियाँ सामूहिक रूप से एक ऐसा वातावरण बनाने में योगदान देती हैं जहाँ व्यक्तियों और समुदायों के पास सशक्त और सम्मानजनक जीवन जीने हेतु आवश्यक उपकरण, अवसर तथा समर्थन हो। इन नीतियों की सफलता इनके प्रभावी कार्यान्वयन, निरन्तर मूल्यांकन और सशक्तिकरण के सिद्धान्तों के प्रति निरन्तर प्रतिबद्धता पर निर्भर करती है।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) अन्तर्राज्यीय नदी जल विवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

उत्तर– कावेरी जल विवाद कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेश पांडिचेरी के बीच कावेरी नदी के पानी के बंटवारे पर एक लम्बे, लगभग दो दशाब्दियों से अधिक समय से चला आ रहा है। तमिलनाडु के किसानों ने सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर कर केन्द्र सरकार को यह निर्देश देने की प्रार्थना की थी कि वह अन्तर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम के अन्तर्गत एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर तमिलनाडु को कावेरी जल का उचित भाग दिलाये। 14 मई, 1990 को सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार को एक माह के अंदर ऐसा न्यायाधिकरण नियुक्त करने का निर्देश दिया। इस आदेश के अनुपालन में केन्द्र सरकार ने 2 जून, 1990 को बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति चित्तातोष मुखर्जी की अध्यक्षता में तीन सदस्यीय न्यायाधिकरण की नियुक्ति की। इस कावेरी जल विवाद न्यायाधिकरण ने 26 जून, 1991 को अपने अन्तरिम आदेश में कर्नाटक सरकार को 1 जुलाई, 1991 से प्रारम्भ होने वाले वर्ष के लिये तमिलनाडु को 205 हजार घन मीटर पानी छोड़ने का तथा कावेरी बेसिन में अपने सिंचाई क्षेत्र को 11.2 लाख एकड़ तक सीमित रखने का निर्देश दिया।

कर्नाटक ने इस आदेश का डटकर विरोध किया। मुख्यमंत्री बंगारप्पा ने 25 जुलाई, 1991 को कर्नाटक-कावेरी बेसिन सिंचाई सुरक्षा अधिनियम, 1991 के नाम से एक अध्यादेश जारी करवाकर न्यायाधिकरण के अन्तरिम आदेश को निष्प्रभावी कर दिया। दूसरी तरफ तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र सरकार से मांग की कि वह कर्नाटक सरकार द्वारा

न्यायाधिकरण के निर्णय का अनुपालन कराये। दोनों राज्यों ने केन्द्र सरकार से अपना-अपना पक्ष मनवाने के लिये आंदोलनों की श्रृंखला प्रारम्भ कर दी। मामले ने इतना तूल पकड़ा कि कर्नाटक ने न्यायाधिकरण के अन्तरिम आदेश के विरोध में सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिका तक दायर कर दी।

प्रश्न–(2) अन्तर्राज्यीय परिषद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अथवा

क्या अन्तर्राज्य परिषद् संवैधानिक संस्था है? इसका गठन कौन करता है तथा इसके गठन का उद्देश्य क्या है?

उत्तर– अन्तर्राज्यीय परिषद् संवैधानिक संस्था है, इसके गठन एवं कार्यों के सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 263 में लिखा है– यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना से लोकहित की सिद्धि होगी तो वह इसकी स्थापना कर सकता है। राष्ट्रपति आदेश द्वारा उस परिषद् द्वारा किये जाने वाले कृत्यों की प्रकृति को तथा उसके संगठन और प्रक्रिया को निश्चित करता है। अनुच्छेद 263 के अनुसार उसे निम्नलिखित कार्य सौंपे जा सकते हैं–

(1) राज्यों के बीच जो विवाद उत्पन्न हो गये हों, उनकी जाँच करने और उन पर सलाह देने का।

(2) कुछ या सभी राज्यों के अलावा संघ और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से सम्बन्धित विषयों के अन्वेषण और उन पर विचार विमर्श करने, या

(3) ऐसे किसी विषय पर सिफारिश करने और विशिष्टतया उस विषय के सम्बन्ध में नीति और कार्यवाही के अधिक अच्छे सम्बन्ध के लिये सिफारिश करने का।

❑❑❑

❑ ध्यान दें: सभी लघुउत्तरीय प्रश्नों के उत्तर दीर्घउत्तरीय प्रश्नोत्तरों में समाहित हैं। इस हेतु आप लघुउत्तरीय प्रश्न में जितना पूछा जावे, दीर्घउत्तरीय प्रश्न के उत्तर का उतना ही भाग लिखें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

इकाई-1

(1) आजादी के बाद भारत में भाषायी आधार पर सबसे पहले किस राज्य का गठन किया गया?
(अ) उत्तरप्रदेश (ब) महाराष्ट्र
(स) आंध्रप्रदेश (द) बिहार।
उत्तर– (अ) आंध्रप्रदेश।

(2) भारत में राज्यों के पुनर्गठन की सिफारिश किस समिति द्वारा की गई थी?
(अ) धार आयोग (ब) फजल अली आयोग
(स) नेहरू समिति (द) सरकारिया आयोग।
उत्तर– (ब) फजल अली आयोग।

(3) त्रावणकोर और कोचीन जैसी रियासतों के विलय से किस राज्य का गठन हुआ?
(अ) तमिलनाडु (ब) आंध्रप्रदेश
(स) पश्चिम बंगाल (द) केरल।
उत्तर– (द) केरल।

(4) किस राज्य को नाम बदलने से पहले प्रारम्भ में मैसूर राज्य के नाम से जाना जाता था?
(अ) आंध्रप्रदेश (ब) तेलंगाना
(स) कर्नाटक (द) तमिलनाडु।
उत्तर– (स) कर्नाटक।

( ) भारत में राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य मापदंड क्या था?
(अ) भाषायी आधार (ब) धार्मिक विविधता
(स) आर्थिक विकास (द) भौगोलिक आकार।
उत्तर– (अ) भाषायी आधार।

(6) बम्बई राज्य और सौराष्ट्र के विलय होने से कौन–सा राज्य बना?
(अ) मध्यप्रदेश (ब) छत्तीसगढ़
(स) महाराष्ट्र (द) गुजरात।
उत्तर– (द) गुजरात।

(7) जयपुर और जोधपुर जैसी रियासतों को मिलाकर किस राज्य का गठन किया गया था?
(अ) बिहार (ब) उत्तराखंड
(स) राजस्थान (द) उत्तरप्रदेश।
उत्तर– (स) राजस्थान।

(8) आजादी के बाद जूनागढ़ किस भारतीय राज्य में शामिल हो गया?
(अ) राजस्थान (ब) मध्यप्रदेश
(स) गुजरात (द) महाराष्ट्र।
उत्तर– (स) गुजरात।

(9) जूनागढ़ को भारत में मिलाने का प्रमुख कारण क्या था?
(अ) धार्मिक जनसांख्यिकी
(ब) भाषायी संघर्ष
(स) लोकप्रिय जनमत संग्रह
(द) पाकिस्तान में शामिल होना।
उत्तर– (अ) धार्मिक जनसांख्यिकी।

(10) गोवा, दमन और दीव को किस सैन्य कार्रवाई के माध्यम से पुर्तगाली शासन से मुक्त कराया गया था?
(अ) ऑपरेशन पोलो (ब) ऑपरेशन कैक्टस
(स) ऑपरेशन संकल्प (द) ऑपरेशन विजय।
उत्तर– (द) ऑपरेशन विजय।

(11) गोवा किस वर्ष आधिकारिक तौर पर भारतीय संघ का हिस्सा बन गया?
(अ) 1951 में (ब) 1956 में
(स) 1961 में (द) 1966 में।
उत्तर– (स) 1961 में।

(12) कश्मीर में नियंत्रण रेखा (एलओसी) किन दो देशों को अलग करती है?
(अ) भारत और नेपाल (ब) भारत और पाकिस्तान
(स) भारत और भूटान (द)भारत और चीन।
उत्तर– (ब) भारत और पाकिस्तान।

इकाई-2

(1) स्वतंत्रता के बाद भारत में राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य उद्देश्य क्या था?
(अ) भाषायी आधार (ब) धार्मिक एकरूपता
(स) प्रशासनिक दक्षता (द) आर्थिक विकास।
उत्तर– (अ) भाषायी आधार।

(2) तेलुगू भाषी आबादी के विकास के लिए पुनर्गठन द्वारा किस राज्य का निर्माण किया गया?

(अ) तेलंगाना (ब) कर्नाटक

(स) तमिलनाडु (द) आंध्रप्रदेश।

उत्तर– (द) आंध्रप्रदेश।

(3) मराठी भाषी आबादी की माँगों को पूरा करने हेतु कौन–सा राज्य बनाया गया था?

(अ) गुजरात (ब) महाराष्ट्र

(स) मध्यप्रदेश (द) कर्नाटक।

उत्तर– (ब) महाराष्ट्र।

(4) राज्य के पुनर्गठन का उद्देश्य किसे बढ़ावा देना है?

(अ) प्रशासनिक अक्षमता को (ब) क्षेत्रीय असन्तुलन को

(स) धार्मिक संघर्ष को

(द) भाषायी और सांस्कृतिक विविधता को।

उत्तर– (द) भाषायी और सांस्कृतिक विविधता को।

(5) भारत में राज्यों का पुनर्गठन किस दशक में हुआ?

(अ) 1940 के दशक में (ब) 1950 के दशक में

(स) 1960 के दशक में (द) 1970 के दशक में।

उत्तर– (स) 1960 के दशक में।

(6) भारत में किस आन्दोलन ने हिन्दी को आधिकारिक भाषा के रूप में मान्यता देने की वकालत की, जिससे हिन्दी को भारतीय संघ की आधिकारिक भाषाओं में से एक के रूप में अपनाया गया?

(अ) हिन्दी साहित्य सम्मेलन (ब) स्वदेशी आन्दोलन

(स) हिन्दी महासभा (द) असहयोग आन्दोलन।

उत्तर– (स) हिन्दी महासभा।

(7) भारत में राज्यों का भाषायी पुनर्गठन मुख्यतः किस आयोग की सिफारिशों पर आधारित था?

(अ) धार आयोग (ब) फजल अली आयोग

(स) सरकारिया आयोग (द) नेहरू आयोग।

उत्तर– (ब) फजल अली आयोग।

(8) पाकिस्तान के निर्माण की माँग किस विचार पर आधारित थी?

(अ) धार्मिक पहचान (ब) भाषायी विविधता

(स) आर्थिक विकास (द) सांस्कृतिक बहुलवाद।

उत्तर– (अ) धार्मिक पहचान।

(9) 1980 के दशक में खालिस्तान आन्दोलन ने किस भारतीय राज्य में एक अलग सिक्ख राज्य स्थापित करने की माँग की थी?

(अ) हरियाणा (ब) पंजाब

(स) जम्मू और कश्मीर (द) हिमाचल प्रदेश।

उत्तर– (ब) पंजाब।

(10) मंडल आयोग की स्थापना किस मुद्दे के समाधान के लिए की गई थी?

(अ) धार्मिक संघर्ष (ब) जाति–आधारित आरक्षण

(स) भाषायी विविधता (द) आर्थिक असमानताएँ।

उत्तर– (ब) जाति आधारित आरक्षण।

इकाई 3

(1) पहचान और राजनीति के सन्दर्भ में क्षेत्रवाद क्या है?

(अ) स्थानीय पहचान और रूचियाँ

(ब) वैश्विक सहयोग

(स) धार्मिक विविधता

(द) राष्ट्रीय एकता।

उत्तर– (अ) स्थानीय पहचान और रूचियाँ।

(2) अलग विदर्भ राज्य की माँग किस भारतीय राज्य से सम्बन्धित है?

(अ) गुजरात (ब) महाराष्ट्र

(स) मध्यप्रदेश (द) तेलंगाना।

उत्तर– (ब) महाराष्ट्र।

(3) भारत में तेलंगाना आन्दोलन ने एक अलग राज्य के निर्माण की माँग किस आधार पर की?

(अ) जाति–आधारित पहचान (ब) भाषायी पहचान

(स) क्षेत्रीय पहचान और आकांक्षाएँ (द) आर्थिक विकास।

उत्तर– (ब) भाषायी पहचान।

(4) सौराष्ट्र को अलग राज्य बनाने की माँग किस भारतीय राज्य से सम्बन्धित थी?

(अ) राजस्थान (ब) गुजरात

(स) मध्यप्रदेश (द) महाराष्ट्र।

उत्तर– (ब) गुजरात।

(5) प्रायः क्षेत्रीय पहचान और आकांक्षाएँ निम्नलिखित की उपेक्षा के कारण उत्पन्न होती है–

(अ) आर्थिक विकास (ब) प्रशासनिक दक्षता

(स) भाषायी विविधता (द) धार्मिक विविधता।

उत्तर– (अ) आर्थिक विकास।

(6) साम्प्रदायिक का आशय क्या है?

(अ) आर्थिक विकास (ब) सामाजिक समरसता

(स) भाषायी विविधता

(द) धार्मिक और सामुदायिक ध्रुवीकरण।

उत्तर– (द) धार्मिक और सामुदायिक ध्रुवीकरण।

(7) "वोट बैंक राजनीति" शब्द प्रायः निम्नलिखित आधार पर मतदाताओं की लामबंदी से जुड़ा होता है–

(अ) जाति और समुदाय सम्बन्धी विचार

(ब) आर्थिक नीतियाँ

(स) शैक्षणिक योग्यता (द) भाषायी विविधता।

उत्तर– (अ) जाति और समुदाय सम्बन्धी विचार।

(8) कृषि राजनीति मुख्य रूप से किससे सम्बन्धित है?

(अ) औद्योगिक विकास (ब) शहरी विकास

(स) विदेश नीति (द) ग्रामीण और कृषि मुद्दे।

उत्तर– (द) ग्रामीण और कृषि मुद्दे

(9) कृषि राजनीति में न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) का क्या उद्देश्य है?

(अ) कृषि उपज के लिए उचित मूल्य सुनिश्चित करना

(ब) किसानों के लिए अधिकतम लाभ

(स) कृषि सब्सिडी को बढ़ाना

(द) कृषि वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहित करना।

उत्तर– (अ) कृषि उपज के लिए उचित मूल्य सुनिश्चित करना।

(10) भारत में किसान क्रेडिट कार्ड योजना सम्बन्धित है–

(अ) किसानों के लिए आसान और लचीला ऋण

(ब) किसानों को सब्सिडी प्रदान करना

(स) किसानों के लिए फसल बीमा योजना

(द) भूमि पुनर्वितरण।

उत्तर– (अ) किसानों के लिए आसान और लचीला ऋण।

इकाई-IV

(1) राजनीतिक दल क्या है?

(अ) मेलजोल बढ़ाने वाले लोगों का एक समूह

(ब) साझा राजनीतिक लक्ष्यों वाला एक संगठित समूह

(स) एक सांस्कृतिक समाज

(द) एक धार्मिक संगठन।

उत्तर– (ब) साझा राजनीतिक लक्ष्यों वाला एक संगठित समूह

(2) गठबंधन सरकार क्या है?

(अ) गैर–राजनीतिक संस्थाओं द्वारा गठित सरकार

(ब) एक ही राजनीतिक दल द्वारा बनाई गई सरकार

(स) अनेक राजनीतिक दलों द्वारा मिलकर बनाई गई सरकार

(द) सेना द्वारा गठित सरकार।

उत्तर– (स) अनेक राजनीतिक दलों द्वारा मिलकर बनाई गई सरकार।

(3) निम्नलिखित में से कौन–सा भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का आयाम नहीं है?

(अ) वित्तीय सम्बन्ध (ब) सामाजिक सम्बन्ध

(स) प्रशासनिक सम्बन्ध (द) विधायी सम्बन्ध।

उत्तर– (ब) सामाजिक सम्बन्ध।

(4) भारत में केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों को सेवा देने वाली प्रशासनिक सेवाओं को क्या कहा जाता है?

(अ) केन्द्रीय प्रशासनिक सेवा (ब) राज्य प्रशासनिक सेवाएँ

(स) संघीय प्रशासनिक सेवा (द) भारतीय प्रशासनिक सेवा।

उत्तर– (द) भारतीय प्रशासनिक सेवा।

(5) भारत में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का अन्तिम लक्ष्य क्या है?

(अ) एकात्मक शासन प्रणाली स्थापित करना

(ब) राज्यों को पूर्ण स्वायत्तता प्रदान करना

(स) राष्ट्रीय पहचान की कीमत पर क्षेत्रीय विविधता को बढ़ावा देना

(द) राज्य की स्वायत्तता को राष्ट्रीय एकता और सहयोग के साथ सन्तुलित करना।

उत्तर– (द) राज्य की स्वायत्तता को राष्ट्रीय एकता और सहयोग के साथ सन्तुलित करना।

(6) आपातकाल की स्थिति के दौरान राज्य का राज्यपाल क्या कर सकता है?
(अ) सैनिकों से अनुरोध करे
(ब) मार्शल लॉ घोषित करे
(स) विदेशी सरकारों के साथ बातचीत करे
(द) राज्य के संसाधनों और प्रतिक्रिया प्रयासों को जुटाना।
उत्तर– (द) राज्य के संसाधनों और प्रतिक्रिया प्रयासों को जुटाना।

(7) भारत में राज्य विधायी प्रक्रिया में राज्यपाल की क्या भूमिका है?
(अ) संवैधानिकता के लिए कानूनों की समीक्षा करना
(ब) कानून पारित करना
(स) राज्य विधानमंडल को सम्बोधित करना
(द) टाई-ब्रेकिंग वोट डालना।
उत्तर– (स) राज्य विधानमंडल को सम्बोधित करना।

(8) भारत में किसी राज्य में राजनीतिक संकट के दौरान राज्यपाल की क्या भूमिका होती है?
(अ) संकट को हल करने के लिए मध्यस्थता करना
(ब) मार्शल लॉ लागू करना
(स) विदेशी हस्तक्षेप की माँग
(द) राज्य विधानमंडल को भंग करना।
उत्तर– (अ) संकट को हल करने के लिए मध्यस्थता करना।

(9) राज्यपाल किसके प्रति उत्तरदायी है?
(अ) विधानसभा (ब) संसद
(स) राष्ट्रपति (द) प्रधानमंत्री।
उत्तर– (स) राष्ट्रपति।

(10) 'जाति भारत में बहुत महत्वपूर्ण दल है।' यह कथन किसका है?
(अ) महात्मा गाँधी (ब) जय प्रकाश नारायण
(स) इंदिरा गाँधी (द) एलवुड।
उत्तर– (ब) जय प्रकाश नारायण।

(11) लोकतंत्र की सफलता के लिये आवश्यक है–
(अ) एकदलीय पद्धति (ब) द्विदलीय पद्धति
(स) बहुदलीय पद्धति (द) दलरहित पद्धति।
उत्तर– (ब) द्विदलीय पद्धति।

(12) निम्नलिखित में से कौनसा राजनीतिक दल नहीं है?
(अ) कम्युनिस्ट पार्टी (ब) काँग्रेस
(स) भारतीय जनता पार्टी (द) विद्यार्थी परिषद्।
उत्तर– (द) विद्यार्थी परिषद्।

(13) भारतीय जनता पार्टी की स्थापना कब हुई थी?
(अ) 1952 में (ब) 1977 में
(स) 1980 में (द) 1988 में।
उत्तर– (स) 1980 में।

इकाई-5

(1) भारत में अन्तर्राज्य परिषद् किसके लिए जिम्मेदार होती है?
(अ) केन्द्र-राज्य विवादों का समाधान करना
(ब) न्यायिक समीक्षा करना
(स) आर्थिक योजना
(द) कानून एवं व्यवस्था बनाए रखना।
उत्तर– (अ) केन्द्र-राज्य विवादों का समाधान करना।

(2) किस समिति ने योजना में केन्द्र-राज्य सहयोग बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद् (एनडीसी) का स्थापना की सिफारिश की?
(अ) योजना आयोग ने (ब) सरकारिया आयोग ने
(स) धार समिति ने (द) गाडगिल समिति ने।
उत्तर– (द) गाडगिल समिति ने।

(3) भारतीय शासन व्यवस्था में अन्तर्राज्यीय परिषद् किस सिद्धान्त को बढ़ावा देती है?
(अ) सत्ता का विकेन्द्रीकरण (ब) सत्ता का केन्द्रीकरण
(स) अधिनायकवाद (द) सहकारी संघवाद।
उत्तर– (द) सहकारी संघवाद।

(4) अन्तर्राज्यीय परिषद् में राज्यों के हितों एवं चिन्ताओं का प्रतिनिधित्व कौन करता है?
(अ) भारत के राष्ट्रपति (ब) केन्द्रीय कैबिनेट मंत्री
(स) भारत के प्रधानमंत्री (द) राज्यों के मुख्यमंत्री।
उत्तर– (द) राज्यों के मुख्यमंत्री।

(5) कर्नाटक और तमिलनाडु के बीच जल विवाद के केन्द्र में कौन-सी नदी है?
(अ) नर्मदा (ब) गंगा
(स) ब्रह्मपुत्र (द) कावेरी।

उत्तर– (ब) कावेरी।

(6) भारत में कौनसा अधिनियम अन्तर्राज्यीय जल विवादों के समाधान हेतु कानूनी ढाँचा प्रदान करता है?

(अ) अन्तर्राज्य नदी जल विवाद अधिनियम, 1956

(ब) भारतीय जल विवाद अधिनियम, 1960

(स) राज्य जल आवंटन अधिनियम, 1995

(द) पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986

उत्तर– (अ) अन्तर्राज्य नदी जल विवाद अधिनियम, 1956

(7) गुजरात, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के साथ नर्मदा नदी जल विवाद में और कौनसा राज्य शामिल है?

(अ) राजस्थान (ब) उत्तरप्रदेश

(स) छत्तीसगढ़ (द) हरियाणा।

उत्तर– (अ) राजस्थान।

(8) भारत में अन्तर्राज्यीय क्षेत्रीय विवादों का प्राथमिक कारण क्या है?

(अ) भाषायी विविधता (ब) धार्मिक संघर्ष

(स) सीमा और भूमि सम्बन्धी मुद्दे

(द) सांस्कृतिक मतभेद।

उत्तर– (स) सीमा और भूमि सम्बन्धी मुद्दे।

(9) कावेरी नदी जल बंटवारे के विवाद में मुख्य रूप से कौन–से दो राज्य शामिल हैं?

(अ) तेलंगाना और आंध्रप्रदेश (ब) कर्नाटक और तमिलनाडु

(स) बिहार और झारखंड (द) केरल और कर्नाटक।

उत्तर– (ब) कर्नाटक और तमिलनाडु।

(10) तुंगभद्रा नदी विवाद किन दो दक्षिणी राज्यों के बीच जल संसाधनों के बंटवारे से सम्बन्धित है?

(अ) तेलंगाना और महाराष्ट्र (ब) कर्नाटक और आंध्रप्रदेश

(स) कर्नाटक और तमिलनाडु (द) आंध्रप्रदेश और तमिलनाडु।

उत्तर– (ब) कर्नाटक और आंध्रप्रदेश।

(11) कौन–सी योजना ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं को बैंक खाता प्रदान करके उनके वित्तीय समावेशन पर केन्द्रित है?

(अ) प्रधानमंत्री आवास योजना (ब) स्वच्छ भारत अभियान

(स) जन धन योजना (द) राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन।

उत्तर– (स) जन धन योजना।

(12) राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना का क्या लक्ष्य है?

(अ) छात्रों को शैक्षिक छात्रवृत्ति प्रदान करना

(ब) गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों को स्वास्थ्य बीमा कवरेज करना

(स) शहरी गरीबों के लिए रियासती आवास प्रदान करना

(द) युवाओं को कौशल विकास प्रशिक्षण देना।

उत्तर– (ब) गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों को स्वास्थ्य बीमा कवरेज करना।

(13) प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना को इस नाम से भी जाना जाता है–

(अ) आयुष्मान भारत (ब) स्वच्छ भारत अभियान

(स) कौशल भारत मिशन (द) मेक इन इंडिया।

उत्तर– (अ) आयुष्मान भारत।

(14) दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल्या योजना किस पर केन्द्रित है?

(अ) शहरी आवास विकास

(ब) ग्रामीण आजीविका और कौशल विकास

(स) वित्तीय समावेशन

(द) जरूरतमंदों को भोजन वितरण।

उत्तर– (ब) ग्रामीण आजीविका और कौशल विकास।

(15) स्वच्छ भारत अभियान का मुख्य उद्देश्य है–

(अ) गरीबी उन्मूलन (ब) महिला सशक्तिकरण

(स) स्वच्छता और साफ–सफाई (द) सभी के लिए शिक्षा।

उत्तर– (स) स्वच्छता और साफ–सफाई।

❑❑❑